...क संस्कार दर्पणः

श्री वेदाश्रयी स्वामी चेतनानन्द सरस्वती महाराज

संस्थापक :

वेदालोक सोसायटी (समाज) रे० जि० प० बंगाल

॥ ओ३म् ॥

वेदालोक संस्कार दर्पणः

卐

लेखक :

वेदाश्रयी स्वामी चेतनानन्द सरस्वती महाराज

卐

पुस्तक प्राप्तिस्थान :

वेदालोक सोसायटी (समाज) प० बं०

कार्यालय :

भारती सदन

२६३, रवीन्द्र सरणी, कलकत्ता-७.

प्रथम संस्करणम्] [मूल्य १५

निम्नलिखित महानुभावों ने आर्थिक सहायता देकर पुस्तक प्रकाशन के कार्य में जो अमूल्य सहयोग दिया है, मैं उनका हृदय से आभारी हूँ और उनके इस सहृदयता के लिए मैं ईश्वर से उनकी मंगल कामना करता हूँ।

इति ग्रन्थकार :
—वेदाश्रयीजी महाराज

एम० पी० गुप्ता मंगला ब्रदर्श, बम्बई

आर० के० अग्निहोत्री सूरजमल वैद्यनाथ, कलकत्ता

साधुराम वंसल, वंशल इञ्जिनियरिंग वर्क्स, कलकत्ता

रंगीलाल अग्रवाल, मॉडल टाउन, दिल्ली

रुलिया राम गुप्ता, बंगाल प्रिन्टिंग वर्कस्

शीतल प्रसाद आर्य ६५, रतन सरकार गार्डेन स्ट्रीट, कलकत्ता-७५

देवीप्रसाद मस्करा, ८, अमरतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता

पुरुषोत्तम झुनझुनवाला, ५४, जाकुरिया स्ट्रीट, कलकत्ता-७२

मुद्रक—भारत प्रिन्टिंग [illegible]स, २४२, रवीन्द्र सरणी कलकत्ता-७०० ००७

भूमिका

इस ग्रन्थ का नाम "वेदालोक संस्कार दर्पण" है। इसमें उन कर्म पद्धतियों का चयन किया गया है। जो मनुष्य जीवन के सौन्दर्य स्वरूप को देखने और दिखाने के लिए जैसे शीशों के समान है। मनुष्य मात्र अपने चेहरे या स्वरूप को देखने तथा दिखाने के लिए शीशे का प्रयोग करता है। शीशे का दूसरा नाम ही "दर्पण" है। वेदालोक संस्कार दर्पण ही वह दर्पण है जिसमें चारों वेद ज्ञान के सच्चे स्वरूप का ज्ञान-कर्म और उपासना के रूप में अच्छी प्रकार से प्रयोग में लाये गये है। व्यवहार में जिस प्रकार पृथक-२ स्वरूपों को देखने और दिखाने के लिए "दर्पण" की आवश्यक होता है इसलिए दर्पण नाना प्रकार के होते हैं, जो मानव जीवन यात्रा में प्रातः ब्रह्म मुहूर्त से सायं शयन तक तथा जन्म से मृत्यु तक नाना प्रकार के अवस्थान्तर होते हैं। इसलिए असली स्वरूप को देखने-दिखाने के लिए ही ६२ प्रकार के दर्पणों का चयन किया गया है। अतः मानव जीवन यात्रा का यह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ "वेदालोक संस्कार दर्पण" है। इस ग्रन्थ में 'वेदालोक' शब्द का अर्थ ही सारी की कुञ्जी है। प्रायः प्रत्येक शब्द एक अङ्ग अर्थ को प्रकट करता है परन्तु "वेद" शब्द चारों दिशाओं के चतुर्मूखी सर्वाङ्गीण भावधाराओं को प्रकट करते हैं। क्योंकि वेद भी चार हैं—

(१) विद् सत्यायाम्। (२) विद् ज्ञाने। (३ विद् विचरणे। (४) विद्ल लाभे।। इस प्रकार वेद शब्द के अन्दर ही सर्वाङ्गीण ज्ञान-धाराओं का वर्णन करते हैं। जिसकी कोई सत्ता या अस्तित्व होता है उसका ही पहले ज्ञान होता है। विना सत्ता का कोई भी ज्ञान नहीं होता। जिसमें ज्ञान है उस पर ही विचार होता है। जब विचार पूर्वक ज्ञान होता है तभी उसकी ही प्राप्ति होती है। अतः वेद शब्द के अस्तित्व को ज्ञान पूर्वक मनन और विचारधारा से पूर्णरूप से प्राप्त करना होता है।

वेद+आ+लोकः=वेदालोकः। वेद शब्द का साधारण अर्थ है ज्ञान। "आ" उपसर्ग अर्थात् चारों दिशाओं से। लोकृ दर्शने धातु से "लोक" शब्द बना। वस्तु या पदार्थ जिस का दर्शन होता है, उसे लोक कहते हैं। मर्त्यलोक, नरक लोक, भूलोक, द्युलोक, अन्तरीक्ष लोक, देव लोक, मनुष्य लोक, पशु लोक, मुसलिम लोक, हिन्दू लोक, आर्य लोक, क्रिष्टान लोक इत्यादि। अतः वेद ज्ञान के अन्दर भी अनन्त प्रकार के लोक हैं। उनमें से ६२ प्रकार के ज्ञान-कर्म-उपासनादि के संस्कारों को प्राप्त करने-कराने के लिए "वेदालोक" ग्रन्थ बना है।

जिस प्रकार उत्तम कुम्भकार एक ही मिट्टी से नाना प्रकार संस्कार करके हंडी-पतीला-बटलोई-कलसी-मटकी, हुन्डा, खिलौने, पुतला, मूर्ति, प्रतिमा, देवी-देवता इत्यादि बना लेता हैं। उसमें संस्कार के ही भेद से मूल्यहीन मिट्टी का बहुत मूल्य वाला वर्त्तन बन जाता है। उसी प्रकार ही मानव जीवन उत्तम संस्कार से ही विद्वान, योगी, तपस्वी, साधक, मुनि, ऋषि, देवी-देवता अवतार वादी तक बन जाने से वह अमूल्य सम्पद रूप दुर्लभ मनुष्य जन्म धारण कर लेते हैं परन्तु यदि उत्तम संस्कार युक्त न हो तो यह मनुष्य जन्म पशुओं से भी निम्न स्तर का रूप धारण कर लेता है।

अतः चारों "वेद संहिताओं" से उत्तम से उत्तम संस्कारों के। इस प्रकार से चयन किया गया है जिससे मनुष्य जन्म सार्थक हो जाय। इसलिए संस्कारी जीव उत्तम संस्कारों में निरन्तर पुरुषार्थ के साथ रहकर मनुष्य जन्म से ही योगी-तपस्वी साधक-सन्त-महात्मा देवी-देवता के सम महान आदर्शमय जीवन बना लेंगे। इसलिए यह "वेदालोक संस्कार दर्पण" ग्रन्थ निर्माण किया गया है। इस उद्देश्य से ६२ प्रकार के संस्कारों का अवलोकन कराया गया है।
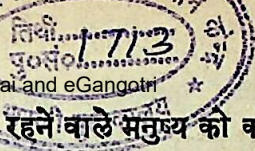
ज्ञान-कर्म-उपासनादि श्रेष्ठ संस्कारों में रहने वाले मनुष्य को कोई बाधा नहीं होती। जब लोग आलसी, प्रमादी-निकम्मे, कुसंस्कारी होते हैं तो विस्तर त्याग करने का भी समय नहीं मिलता।

मनुष्य को चाहिए कि वह समय-समय पर उत्तम-२ कर्म काण्डीय संस्कारों का आयोजन करते रहें। घर में आत्मीय-इष्ट-मित्र आने से जिस प्रकार अच्छे-२ खान-पान के मिष्टान्न, पकवान्न आदि के बन जाने से इष्ट-मित्रों के साथ अपने लोगों को भी उत्तम खान-पान का साधन प्राप्त हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार नाना प्रकार के पर्वीय यज्ञ-यज्ञादि, धर्म-कर्म के आयोजनों से उत्तम से उत्तम संस्कारों का जीवन दर्पण बन जाता है। अपनी भूल-त्रुटियों का अनुभव होता रहता है।

अब विचार करने का विषय यह है कि—एक ही मनुष्य जाति है उनमें मुसलमान कुरान के प्रति, क्रिश्टान बाइबिल के प्रति, बौद्ध त्रिपिटक के प्रति, सिक्ख ग्रन्थ साहब के प्रति, सनातनिं पुराणों के प्रति, आर्य समाजी सत्यार्थ प्रकाश के प्रति क्यों आकृष्ट है? यहातक बना हुआ है जो कि प्रत्येक समाज अपने को ही श्रेष्ठ मानता है और दूसरों को जिन्दा ही नहीं देखना चाहता।

अब निम्न बातों का मनन कीजिए—आज से १० वर्ष पूर्व 'सन्तोषी माता' पन्थ नहीं था, २५ वर्ष पूर्व बाल भगवान 'हंस' मत नहीं था। इसी प्रकार सांईबाबा, महेश योगी, आचार्य रजनीश, आनन्द मयी, बाल भगवान, सन्तान दल, अनुकूल ठाकुर, ओङ्कार नाथ, प्रजापति ब्रह्म कुमारी, आनन्द मार्गी आदि नहीं थे। ११२ वर्ष पूर्व आर्य समाज, रामकृष्ण परम हंस नहीं थे। १२५ वर्ष पूर्व ब्रह्म समाज नहीं था। ५०० वर्ष पूर्व चैतन्य चरितामृत, चेतन्य महाप्रभु, गुरुनानक, ग्रन्थ साहब, अकाली-निरहंकारी, तुलसी दास, रामायण नहीं था। १४०० वर्ष पूर्व

हजरत मुहम्मद का कुरान नहीं था। १९८७ वर्ष पूर्व इसाई-बाईबिल नहीं था। २५०० वर्ष पूर्व जैन मूर्ति पूजक नहीं थे। ५००० वर्ष पूर्व भगवान कृष्ण गीता, महाभारत, भागवत नहीं थे। उससे पूर्व यथाक्रम भगवान राम रामायन, दर्शन, उपनिषद, उपवेद इत्यादि कुछ भी नहीं थे। परन्तु सभी कालों या युगों से एक ही मनुष्य जाति है और रहेगी। इसका कोई उलट-पलट नहीं हुआ। सृष्टि के आदि से वही सूर्य-चन्द्र जल-मिट्टी-आकाश-वायु-अग्नि आदि सभी कुछ एक ही हैं। ये सभी के लिए समान रूप से उपादेय भी हैं। ईश्वर तथा ईश्वर का बनाया हुआ साधन में भागा-भागी नहीं है। अब आश्चर्य की बात यह है कि अलग-अलग भगवान, ईश्वर तथा उपासना पद्धति में भेद कैसे आया?

सृष्टि के आदि में मानव विज्ञान ग्रन्थ 'वेद' को सभी लोग स्वीकार करते हैं परन्तु ज्ञान-कर्म-उपासना पद्धति में विकृति कैसे आई?— झगड़ा, कलह, मत-मतान्तर, जात-पात, भेद-भाव का मूल कारण क्या है? एक ही ईश्वर का सृष्टि के आदि विज्ञान ग्रन्थ 'वेद' ही मानव मात्र के निर्मित है। कुरान केवल मुसलमानों का है, न मानने वाले काफिर (नीच-हत्या के योग्य) हैं। उसी प्रकार सभी शास्त्र अपने-२ दल के पोषक हैं, अन्य सभी नीच हैं। सो ऐसे दलबन्दी, जात-पात, ऊँच-नीच भाव उत्पन्न करने वाले शास्त्रों को हम धर्म शास्त्र नहीं कहते। उसे झगड़ा शास्त्र ही कहा जा सकता है। इस कारण से ही आज संसार के अन्दर श्रेष्ठ मानव की यह दुर्दशा है। दुनिया में पशु-पक्षी आदि सभी प्राणी अपने समान जन्म जाति को तो पहचान लेते हैं और संगवद्ध रहती हैं किन्तु मनुष्य होकर यदि अपने को श्रेष्ठ कहकर अपने समान जाति को इन्सानियत को नहीं पहचानेंगे तो वही मूल में भूल संस्कार जमा हुआ है।

दुनिया में सभी धर्म शास्त्रों ने भेद-भाव उत्पन्न किया है परन्तु संसार में केवल 'वेद' ही ऐसा ग्रन्थ है जहाँ पर सभी को श्रेष्ठ बनाने का उपदेश किया है। 'वेद' ही उसका उज्ज्वल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

ओ३म् यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुपमादो नमतु॥ यजुर्वेद—२६/२॥

ईश्वर का उपदेश :—

हे मनुष्य! (यथा) जैसे (कल्याणी) कल्याण करने वाली (वाचं) यह वेदवाणी (जनेभ्यः) मानव मात्र के निमित्त मैंने [ईश्वर] (आवदानी) उपदेश किया हूँ। उनमें (ब्रह्मराजन्याभ्यां) ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि लोग (शूद्राय) अल्प बुद्धि, अनपढ़ शूद्र आदि मूर्ख लोग (स्वाय च) तथा सेवक भृत्य लोग (चारणाय च) और अरण्य, बन्य, अन्त्यज लोग अर्थात् जो लोग उत्तम समाज वद्ध होकर जीवन यापन नहीं करते, जो कि यायावर आदि सभी मानव मात्र के लिए (इमाम् वाचं) इस वेद रूप पवित्र वाणी का मैंने उपदेश किया हूँ। इसलिए (इह) इस संसार में (दातुः) विद्या-बुद्धि-ज्ञान आदि ऐश्वर्यों के प्रचार करने वाले (देवानां) दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव युक्त विद्वानों तथा साधनों की (दक्षिणायै) आदर-सत्कार-मूल्यादि प्रदान कर, उपयुक्त रूप सबसे (प्रियः) प्यारा पात्र (भूयासम्) बन कर सभी परस्पर जीवन यापन करें। इसमें कभी भी किसी को (मा अदः) जात-पात, छुआ-छूत, आदि निम्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न न हों। सभी लोग सर्वदा आपस में भ्रातृ भाव से (उप नमतु) बड़े विनम्रता के साथ रहें।

अब सार्व भौम मानव सृष्टि के आदि ईश्वर कृत वेद मंत्र का ही जब इस प्रकार उपदेश है तब हमें परस्पर भेद-भाव न करके एक ही अखण्ड वेद भगवान के उपदेश के अनुसार चलना चाहिए। इस हेतु चारों वेद संहिताओं से ही ९२ प्रकार के संस्कारों का चयन करके यह

"वेदालोक संस्कार दर्पण" का चयन किया गया है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है कि जब अच्छी वस्तु बगीचे, गृह आदि निर्माण करते हैं तब उसकी सुरक्षा के लिए बाढ़ भी लगाया करते हैं। इसलिए अत्यावश्यक स्थानों पर प्रश्न-उत्तर के रूप में कुछ संका समाधान भी किया गया है। पहले बंगला भाषा में इस "वेदालोक संस्कार दर्पण" को मुद्रण करने में जो बाधाएँ आई हैं उसके अनुसार प्रश्न-उत्तर का भी विषय रखकर संका समाधान किया है। कुछ अंश तथा दर्पणों के विस्तार किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ "वेदालोक संस्कार दर्पण" लिखने में कई वर्षों का समय लगा है। पुस्तक तैयार करने में ऊँची भावना के साथ-साथ अनुभव का भी ध्यान रखा गया है। मेरा ऐसा विश्वास है कि इस ग्रंथ का अध्ययन जो भी महानुभव करेंगे उनमें यह शक्ति सामर्थ्य उत्पन्न हो जायेगी जिससे मनुष्य मात्र में वैदिक पथ प्रदर्शक के रूप में व्यक्ति, परिवार, इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धव, समाज, राष्ट्र तक सर्वत्र ही वे लोग 'वेदालोक समाज' की स्थापना करके मानसिक, शारीरिक तथा आत्मिक उन्नति के पथ पर ज्ञान, कर्म और उपासना कार्य में निरन्तर बढ़ते रहेंगे।

हमारा अनुरोध है कि सुधी पाठक वृन्द यदि कहीं पर कुछ विनियोग प्रसंग, दोष समझे तो हमें अपने संग समझ कर सुझाव देने से परवर्ति मुद्रण तक यथा योग्य स्वीकार करेंगे। बंग भाषी होने से, हिन्दी में गलतियाँ होने की आशंका हैं। उस पर ज्यादा ध्यान न देकर विषय वस्तु का ही ध्यान रखे। यथा शक्ति पुस्तक को उपादेव बनाने का प्रयास किया है और सभी करते रहेंगे।

इति—ग्रन्थ लेखक :

वेदाश्रयी स्वामी चेतनानन्द सरस्वती महाराज

वेदालोक समाज संस्थापक।

पश्चिम बंग

विषय सूची

प्रथम खण्ड

दर्पण सं०	विषय	पृष्ठ
(१)	मंत्रोच्चारण विज्ञान	१
(२)	निद्रा खुलते ही संकल्प मंत्र	८
(३)	उषा पान मंत्र	६
(४)	प्रातः सम्मिलीत प्रार्थना	६
(५)	शयन मंत्र (रात्रि सूक्त)	११
(६)	शुचि संकल्प मंत्र	१४
(७)	दन्त मार्जन ”	१४
(८)	योगासन व्यायाम मंत्र	१६
(९)	विश्राम ”	१८
(१०)	स्नान ”	१९
(११)	ईश्वर उपासना	२५
	प्राणायाम :—	२९
(१२)	विद्यालय की प्रार्थना	४९
(१३)	सभासमिती मे ”	५१
(१४)	भ्रमण यात्रा का	५२
(१५)	दुकान खोलने का	५२
(१६)	अन्न ग्रहण का	५३
(१७)	यज्ञेश्वर पूजा पद्धति	५६
	यज्ञ विधि	५६
	यज्ञारम्भः	५९
	यज्ञेश्वर प्रार्थना	६२
	स्वति. शान्ति पाठ	६८
	यज्ञ सूत्र धारण	७३
	कुण्ड पूजन समिधा दान	७३
	दीपक प्रज्वलन, अग्न्याधान	७५
	व्याजन समिधा पञ्चघृता	७७
	हुति, जलसिञ्चन	८०
	सामान्य प्रकरण	८२
	विशेष यज्ञ मंत्र	८६

द्वितीय खण्ड

दर्पण सं०	विषय	पृष्ठ
(१८)	पञ्चभूत चूल्ही यज्ञ	८८
(१९)	पूर्णिमा पर्व ”	८८
(२०)	अमावस्या पर्व,,	८९
(२१)	गर्भाधान संस्कार	९०
(२२)	पुंसवन ”	१००
(२३)	सीमन्तोन्नयन संस्कार	१०२
(२४)	जातकर्म ”	१०६
(२५)	नामकरण ”	११३
(२६)	निष्क्रमण ”	११८
(२७)	अन्नप्राशन ”	१२०
(२८)	चूड़ाकरण ”	१२१
(२९)	कर्णवेघ ”	१२४
(३०)	उपनयन ”	१२६
(३१)	वेदारम्भ ”	१३५
(३२)	समावर्तन ”	१३६
(३३)	विवाह ”	१३९
(३४)	गृहस्थ ”	१५३
(३५)	वानप्रस्थ ”	१५९
(३६)	सन्यास ”	१६४
(३७	अन्त्येष्टि क्रिया	१७०
(३८)	प्रश्नोत्तर दर्पण	१७८
(३९)	दुर्गोत्सव यज्ञः	२१३
(४०)	लक्ष्मी पर्वोत्सव यज्ञः	२१६
(४१)	काली पूजा पर्व यज्ञ	२१७
(४२)	मनसा ”	२१९
(४३)	शितला ”	२२१
(४४)	कार्तिक ”	२२३

दर्पण सं०	विषय	पृष्ठ
(४५)	गणेश पूजा पर्व यज्ञ:	२ ४
(४६)	विश्वकर्मा "	२२५
(४७)	गंगामाता "	२२७
(४८)	सरस्वती "	२२८
(४६)	शिवरात्री "	२२६
(५०)	विष्णु "	२३०
(५१)	नारायण "	२३१
(५२)	ब्रह्मा "	२३२
(५३)	रथ, यात्रीवाह "	२३३
(५४)	रक्षावन्धनी "	२३४
(५५)	श्रावणी "	२३५
(५६)	दीपावली "	२३६
(५७)	होली, नवान्न "	२३७
(५८)	ग्रह राशि शान्ति	२३८
(५६)	भूत, प्रेत, पिशाच नासक	२३६
(६०)	गोपाष्टमी पूजा पर्व	२४०
(६१)	जन्माष्टमी "	२४२
(६२)	रामनवमी "	२४३
(६३)	पुत्रेष्ठी या पुत्र प्राप्ति	२४४
(६४)	राष्ट्र विजय पर्व यज्ञ	२४५
(६५)	वर्षा के लिए "	२४७
(६७)	धन राशि प्राप्ति	२४६
(६८)	रोग आरोग्य	२५०
(६६)	मातृ-पितृ श्राद्ध	२५१
(७०)	प्रायश्चित्य	२५३
७१)	चन्द्रायण यज्ञ	२५४
७२)	स्वस्ति याग	२५५
(७३)	शान्ति	२५५
(७४)	गृह निर्माण	२५५
(७५)	शुद्धि संस्कार	२५७
(७६)	गृह प्रवेश	२५६
७७)	अक्षय तृतीया	२६०
(७८)	पीशाच दोष नाशन	२६१
(७६)	व्रत पालन	२६१
(८०)	शत्रु विजय	२६३
(८१)	दीर्घायुष्काम	२६३
(८२)	जन्मोत्सव	२६४
(८३)	मातृ पूजन	२६५
८४)	पितृ पूजन	२६६
(८५)	गुरु पूर्णिमा	२६७
८६)	भ्रातृ द्वितीया	२६८
(८७)	जमाई षष्ठी	२७०
(८८)	सभा आयोजन	२७१
(८६)	मृत्युञ्जय यज्ञ	२७२
(६०)	शत्रु से आत्म रक्षा	२७३
(६१)	गायत्री महायज्ञ	२७४
(६२)	भक्ति मंत्र श्लोक	२७५
	संस्कृत गीतिका	२७७
	भजन	२७६—२८७

।।१।। प्रथम दर्पण: । (वेदमंत्र उच्चारण विज्ञान)।

"वेदालोक संस्कार दर्पण ग्रन्थ" सम्पूर्ण वेद मन्त्रों का विषय है। सभी दर्पणों में ज्ञान-कर्म-उपासना की पद्धति वेद मन्त्रों से ही निष्पादित होने से सर्व प्रथम वेद मन्त्रों के उच्चारण की विधि को जानना अत्यावश्यक है। वेद वाणी संस्कृत देववाणी की जननी है इसलिए मन्त्र-श्लोक सूत्र-गद्य-पद्य इत्यादि के पठन, पाठन, श्रवण, श्रावण मात्र से ही दिव्य भावनाओं का श्रोत बहने लगता है। "दिव्येन देयम् इति दैव्यं जनम्" जिस भाषा के श्रवन, मनन, गुणगान कीर्तन मात्र से ही दिव्य ज्ञान श्रोत की ज्वाला फूटने लग जाती है, उससे ही दिव्य जन्म प्राप्त होता है। यह ही मानव जीवन की दैवी सम्पदा वेद वाणी में छिपा हुआ है।

पञ्च भौतिक देवताओं से यह शरीर बना है। जो ब्रह्माण्ड में है वही शरीर पिण्ड में है। इसलिए सारी दुनिया का तत्व ज्ञान ही शरीर विज्ञान के अन्तर्गत है, और सम्पूर्ण वेद शास्त्र उसका ही वर्णन करते हैं। "शरीरं आद्यंखलु धर्म साधनम्" अर्थात् सभी प्रकार के धर्म-कर्मों का मूल शरीर है।

भाषा विज्ञान की जननी नाभि केन्द्र है। नाभी से वायु को फेंकते हुए मुख मण्डल से उसकी पृथक सत्ता की रक्षा होती है। मुँह को ब्रह्म पिता कहा गया है। ब्रह्मा की सप्त जिह्वा, सप्त स्थान, सप्त नाद, सप्त समुद्र, सप्त धारा, सप्त ऋषि, सप्त विभक्ति, सप्त नक्षत्र, मण्डल, सप्त परिधि इत्यादि अनेकों प्रकार की व्याख्या है। मुँह को ब्रह्मा कहने से मुँह से उच्चारित श्रेष्ठ वाणी को भी "वाणीर्वैब्रह्म:" कहा गया है। शब्द को भी अक्षर ब्रह्म कहा गया है। अतः वेद मन्त्रों के उच्चारण के लिए स्वर,

मात्रा, छन्द, स्थान, लय, प्रयत्न, विराम इत्यादि के बारे में कुछ जानकारी करनी चाहिए। जिसे हमने आगे चलकर चित्र के रेखांकित तीर चिह्न से प्रकट किया है। उसे देख लेवें।

(१) स्वयं राजन्तः इतिस्वराः—जो वर्ण स्वतंत्र, अपने आप ही दूसरों के सहयोग के बिना अर्थ-संगति प्रकट करता है, उसे राजा कहते हैं। स्वर वर्ण १२ हैं जैसे—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ इत्यादि।

(२) अन्वग् भवन्ति व्यञ्जना :—जो वर्ण दूसरों के पीछे चलकर ठहरता है। यह आप सर्वदा हलन्त्य रूप में आधी मात्रा बनकर रहता है। जब यह स्वर वर्ण के साथ मिलता है तब व्यञ्जन वर्ण पूर्ण मात्रा बन जाता है। वैदिक व्यञ्जन वर्ण ३६ हैं यथा—क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, श्, ष्, स्, ह्, क्ष्, ळ्, ळ्ह् इत्यादि।

जिस प्रकार आत्म का दर्शन नहीं होता परन्तु शरीर के अन्दर रहता हुआ सभी अंग प्रत्यङ्गों की सुरक्षा, संचालन करता है उस प्रकार ही स्वर वर्ण आत्मा के सम व्यञ्जनों की सुरक्षा करता है। प्रत्येक के स्वर वर्ण मात्रा में सूक्ष्म हो जाता है और व्यञ्जन वर्ण के अन्दर छिपकर हलन्त्य को हटा देता है। स्वर मात्रा यथा—ा, ा, ि, ी, ु, ू, ृ, ॢ, े, ै, ो, ौ, व्यञ्जन के साथ मिलकर आधा—क्+अ=क | क्+इ=कि, क्+उ=कु इस प्रकार भाषा बन जाती है। व्यञ्जन वर्णों में स्पर्श वर्ण २५ हैं। स्वर और व्यञ्जन वर्ण सर्वदा नट भायवत् रहता है।

(३) वर्गीय वर्णाः—कु, चु, टु, तु, पु। कु=क्, ख्, ग्, घ्, ङ्। चु=च, छ, ज, झ, ञ। टु=ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्। तु=त्, थ्, द्, ध्, न्। पु=प्, फ्, ब्, भ्, म्।

(४) ऊष्माण = श्, ष्, स्, ह् । (५) अन्तस्थाः = य्, र्, ल् व् ।

(६) यमाश्चानुनासिक्याः = (९) ऋटुरषाव्डल्ठ मूर्धन्याः ÷

(७) उपूपध्मानीय ओष्ठः = (१०) इचुयशास्तालव्यः =

(८) लृतुलसा दन्त्याः = (११) अकुह विसर्जनीयाः कन्ठाः

अब कौन सा वर्ण किस-किस स्थानों में जिह्वा के द्वारा स्पर्श करके बोलना चाहिए सो उसका वर्ण चित्र में देखिए ।

(६) अनुनासिक ञ्, ङ्, ण्, न्, म् ।
(७) ओष्ठ० उ्, प्, फ्, ब्, भ्, म् ।
(८) दन्त्या = लृ त्,थ्,द्,ध्,न्, स् ।
(९) ऋ, ट्,ठ्,ड,ढ्,ण्, ष्, ड्,ल्ठ् ।
(१०) तालु इ,च्,छ्,ज्,झ्, ञ्, श् ।
(११) कन्ठाः = अ्,क्,ख्,ग्,घ्,ङ्,ह् ।

यमाश्चानुनासिक्याः—यहाँ पर ङ्, ञ्, ण्, म्, सभी अनुनासिक वर्ण है कण्ठ के ऊपर श्वास नाली से श्वास या वायु को नासिका के मूल में थोड़ा सा लगाकर बोलने से ही शुद्ध अनुनासिक नाकिये उच्चारण होता है। क्योंकि एक ही रहस्य है कि जिस स्थान का जो नाम है सो उसके अनुसार ही वर्णों का नामकरण हुआ है।

उपपनानीया ओष्ठः—यहाँ पर उ, प्, फ्, ब्, भ्, म्, सभी वर्णों को दोनों ओष्ठ को मिलाकर ही बोलना शुद्ध उच्चारण होता है। इसलिए ओष्ठ वर्ण नाम पड़ा है।

लृतुलसा दन्त्याः—यहाँ पर लृ, त्, थ्, द्, ध्, न् ये सभी वर्णों को जिह्वा का अग्र भाग दोनों अगली दाँतों में स्पर्श करके बोलने से ही शुद्ध दन्त्य वर्ण उच्चारण होता है। बंगाली, मद्रासी लोग न तथा स् को दन्त्य में मिलाकर नहीं बोलने से भूल हो जाता है।

ऋटूरषाण्डल्ठ मूर्धन्या—ॠ, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ष्, ल्ड्, ल्ढ् ये सभी वर्णों का जिह्वा का अग्रभाग ऊपर की तरफ सामान्य गोलाकार करके मूर्धा स्थान में मिलाकर ही उच्चारण करने से शुद्ध उच्चारण होता है। पौराणिक ब्राह्मण लोग "ष" को मूर्धा स्थान में स्पर्श करके नहीं बोलते इसलिए धारा प्रवाह वेद मंत्र भूल उच्चारण करते हैं। जिस वर्ण का नाम ही मूर्धा "ष" है उसे कन्ठ में से उच्चारण करना पैर को सिर समझना होता है।

इचुयशास्तालव्याः—इ, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, श् ये सभी वर्णों को जिह्वा अग्र भाग से डेढ़, दो, इञ्चि मध्य भाग तक सामान्य ऊँचा कर ऊपर के तालु में स्पर्श करके बोलने से शुद्ध तालू वर्ण उच्चारण होता है।

अकुह विसर्जनीया कन्ठाः—यहाँ पर अ, क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, ह् ये सभी वर्णों को जिह्वा के मूल से कन्ठ में स्पर्श करके बोलने से शुद्ध कन्ठ्य वर्ण उच्चारण होता है। नेपाली, बिहारी, बंगाली, मद्रासी लोग दन्त 'स', मूर्धा 'ष' तालु 'श' तथा दन्त 'न' ये सभी वर्णों को उल्टा खिचड़ी बनाकर उच्चारण करते हैं अर्थात् जिस वर्ण का जो स्थान है सो उसी स्थान से उच्चारण करना ही शुद्ध होता है। अन्यथा गलत अर्थ निकलता है। जिस प्रकार 'सब' शब्द का अर्थ है समस्त या सारे किन्तु 'सब' के स्थान में दन्त 'स' उच्चारण न करके वहाँ पर तालु उच्चारण 'शव' बोला जाता है। तब उसका अर्थ होता है 'मुर्दा'। उस प्रकार वेद मंत्र में लिखा है 'ईषावास्यमिदं सर्वं०" सहस्त्र शीर्षा पुरुषाः सहस्त्राक्ष०

इत्यादि, जब ब्राह्मण लोग वेद पाठ करते हैं तब 'ईषा' को 'ईखा' उच्चारण करने से मूर्धा 'ष' नहीं रहता। कन्ठ स्थान का 'ख' वर्ण उच्चारण करने से ऐश्वर्यशाली ईश्वर को 'खा' जाना होता है।

उस प्रकार "पुरुषा" स्थान में "पुरुखा" उच्चारण होने से पूर्वजों को खा डालना होता है। कभी-कभी "स" स को भी "ख" स्थान कण्ठ से बोलते हैं। कभी-२ "क्ष" को 'ख' उच्चारण करते हैं। यह बहुत ही भारी गलती है। वेद मन्त्र पाठ काल में मात्रा का भी ज्ञान अत्यावश्यक है। स्वर मात्रा तीन प्रकार की ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत स्वर हैं। निम्न मंत्र से यह स्पष्ट हो जायेगा।

१ ३ ५ ७ ९ ११ १३ १५ १७ १९ २१ २३ २५ २७
ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्नासुव
२ ४ ६ ८ १० १२ १४ १६ १८ २० २२ २४ २६

अर्धमात्राः—अर्द्धमात्रा में ३, २१ नं म्, द् हलन्त्य वर्ण है। इसके उच्चारण में आधा समय लिया जाता है।

एकमात्रा :—अर्द्ध मात्रा बोलने का दूना समय लगाकर बोलने से पूर्ण एकमात्रा उच्चारण शुद्ध होता है। मंत्र में ४,६,८, ९,१०, ११, १३,१५, १६, १८, १९, २०, २२, २६, २७ नम्बर के वि, नि, व, स, वि, त, रि, नि, प सु, व, य, भ, सु, व ये सभी वर्ण ह्रस्व स्वर एकमात्रा में उच्चारण करना चाहिए।

दोमात्रा दीर्घ स्वर—मंत्र में १, ५, ७, १४, १७, २५ नम्बर के ओ श्वा, दे, ता, रा, न्ना ये सभी वर्ण एक मात्रा से द्विगुणा समय लम्बा स्वर से बोलना चाहिए।

त्रीकस्तु लुप्त स्वर=मंत्र में २ न० के '३' चिन्ह को प्लुत स्वर कहा गया है। दो से अधिक जितना लम्बा हो सके उसे लुप्त कहा गया है।

लोक में भी किसी को लम्बे स्वर से पुकारने से भी उसे प्लुत स्वर कहा जा सकता है। इसलिए 'ओ३म' परम ब्रह्म के नाम को जितने लम्बे स्वर से बोलते हैं सो उत्तम है। मंत्र पाठ काल में यदि मात्रा बोध ना रहे तो एकमंत्र एक हजार व्यक्ति पाठ करेगा तो हजार प्रकार के उच्चारण भेद होगा और यदि सभी को मात्रा का ज्ञान हो तो एकमंत्र लाखों मिल कर बोलने से एक ही छन्द में उच्चारित होगा।

संयुक्तास्तु दीर्घ :—मंत्र पाठ काल में जहाँ पर संयुक्ताक्षर होगा वहाँ पर जोर लगाकर बोलना होता है। मंत्र में श्वा-दु-त्रा इत्यादि वर्णों के उच्चारण काल में दीर्घ मात्रा और ऊछलता हुआ झट्के से बोलना होता है।

लौहपिण्डाधातवत्स्पर्शा :—यह शास्त्रकार का मत् है कि जितने स्पर्श वर्ण है क् से म् तक् ईनका उच्चारण करते समय लौहपिण्ड के आघात् के समान कठोर स्पष्ट, स्वतन्त्र, अनाश्रित रहेगा।

काष्ठपिण्डाधातवत्यमा :—ङ, ञ, ण, न, म् ये सभी वर्णों का लकड़ी के आघात समान कोमल स्पर्श से उच्चारण होगा।

शाल्मलिकावत्स्वरा :—सभी स्वर वर्ण शाल वृक्ष के समान दीर्घ सरल, सुन्दर, मधुर भाव धारा से उच्चारण करना होगा।

कन्ठ्याग्नेगा :—सभी कण्ठवर्ण अग्नि स्थानीय है। उसका उच्चारण करते समय शरीर में अधिक जोर तथा उष्णता प्राप्त होती है।

तालव्यास्सोमः—सभी तालव्य वर्णादि के उच्चारण से सोम शक्ति उत्पन्न होती है।

मूर्धास्थानीय वायव्या :—मूर्धास्थानीय वर्णों के उच्चारण से वायु शक्तिका अर्थात् पवन शक्ति का निर्माण होता है।

दन्त्यारौद्रा :—सभी दन्त्य वर्णों के उच्चारण से रूद्रशक्ति का उदय होता है।

उष्ठ्योश्विनौ :—सभी उष्ठ वर्णों के उच्चारण से अश्विना नक्षत्र शक्ति का उदय होता है।

अनुस्वार संयुक्ताक्षराविश्वेदेवाः—सभी अनुस्वार तथा संयुक्ताक्षरादि के उच्चारण से विश्वदेव शक्ति का उदय होता है।

अब यहाँ से आगे चलकर जितने दर्पण होंगे वेद मंत्रों के उच्चारण विज्ञान से ही सभी शक्तियों का प्रादुर्भाव होंगे। यह वेदालोक संस्कार दर्पण ग्रन्थ चारों वेदों के मंत्र संहिता से निष्पादन किया है। ऋग्वेद का मण्डलसूक्त मंत्र। यजुर्वेद का अध्याय-मंत्र संख्या। सामवेद का मंत्र संख्या दिया है। अथर्व वेद का काण्ड-सूक्त-मंत्र संख्या दिया है। कहीं पर यथाक्रम से मंत्र संख्या एक साथ सजाकर दिया गया है।
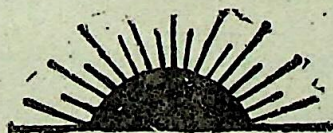
॥२॥ द्वितीय दर्पणः ॥

प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्म मुहूर्त में निद्रा खुलते ही अर्थ मनन सहित, बड़े ही श्रद्धा-भक्ति के साथ, विनम्र भावना से निम्न मंत्रों के उच्चारण करें—उसके पश्चात् तुरन्त ही अन्य नित्य कर्म में लग जावें।

१ ॥ ओ३म् प्रागपागुदगधराक् सर्वतस्त्वा दिश आधावन्तु ।
अम्ब निष्पर समरीर्विदाम् ॥

२ ॥ ओ३म् त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥
यजु० ६ / ३६, ३७

३ ॥ ओ३म् मा प्रगाम पथोवयं मा यज्ञाद् इन्द्र सोमिनः ।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः ॥ ऋ० १० / ५७ / १

भावार्थ—(१) हे मातृवत् सोमरूप ओ३म् परमात्मन्—आपकी कृपा से पूर्व-पश्चिम-उपर-नीचे आदि सभी दिशाओं में हम सभी कर्तव्य कर्मों को दौड़ते हुए करते रहें।

(२) हे इन्द्र परमात्मन्!—आपके समान प्रशंसनीय उपास्य देव, इस संसार में हमारा और कोई नहीं है। इस भावना रूप वेदवाणी से हमें आप सुखी करें।

(३) हे इन्द्र परमात्मन्!—आपकी कृपा से हम पवित्र मार्ग को कभी न छोड़ें। यज्ञादि कर्मों से कभी वञ्चित न हों। हमारे धन-ऐश्वर्यों के अन्त न होने पावें।

अब शीघ्र ही शंख या घन्टा बजावें। सभी लोग उठ जावें। आस-पास के भी लोगों को उठने का सुअवसर प्रदान करना चाहिए।

॥३॥ तृतीय दर्पणः ॥ उषापान ॥

शयन स्थान त्याग करके ही मुंह कुलि कर तथा लघुशंका करके उषापान करें। उषापान एक महत्वपूर्ण कार्य है। प्रातः उठते ही प्राणी मात्र के शरीर में एक विषाक्त उत्तेजनात्मक गरमी रहती है। जिसने मधुमय निद्रा को स्वप्नावस्था में लाकर उठा दिया, उस गरमी को शान्त करते ही शरीर में नवीनता प्राप्त होती है। इसके लिए शीतल जल अथवा शरीर उपयोगी धारोष्ण जल अवश्य ही पान करें। इससे त्रिदोष नाशक कोष्ठ परिष्कार, शरीर शुद्धि का महत्वपूर्ण कार्य होता है। इस हेतु मन्त्रार्थ मनन के साथ निम्न मंत्र बोलकर ही सर्वदा जलादि पेय वस्तु पान करें।

मन्त्र यथा :—

१ ॥ ओ३म् इदमापः प्रवहत यत् किञ्च दुरितं मयि ।

यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वाशेप उतानृतम् ॥ (ऋ० १।२३।२२)

भावार्थ—हे सोम रूप परमात्मन् !—आपका दिया हुआ यह जल हमारे शरीर में उसी प्रकार प्रवाहित हो जिससे किसी भी प्रकार के घृणित-उपेक्षित त्याज्य मलादि दोष अवश्य ही बाहर निकल जावें। अर्थात् नाना प्रकार के रोग शोक-सन्तापादि न रहे।

॥४॥ चतुर्थः दर्पणः ॥ प्रातः सम्मिलीत प्रार्थना ॥

व्यक्ति-परिवार-समाज-आश्रम विद्यालय आदि में पंक्ति बद्ध पूर्वाभिमुख अर्थात् सूर्योन्मुख होकर निम्न मंत्रों से अर्थ मनन सह सम्मिलित प्रार्थना करें। इसके पश्चात् सम उमर तथा छोटों के प्रति 'नमस्ते' एवं गुरुजनों को चरण स्पर्श करके स्थान त्याग करें। मंत्र यथा :—

१ ॥ ओ३म् प्रातर्याव्णः सहस्कृत सोमपेयाय सन्त्य ।
इहाद्य दैव्यं जनं बर्हिरा सादया वसो ॥ (ऋ०—१।४५।६)

२ ॥ ओ३म् प्रातारत्नं प्रातरित्वा दधाति तं चिकित्वान् प्रतिगृह्यानिधत्ते
तेन प्रजांवर्धयमान आयु रायस्पोषेण सचते सुवीरः ॥
(ऋ० १।१२५।१)

३ ॥ ओ३म् उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥
(ऋ०—७।४१।४)

४ ॥ ओ३म् प्रातः-प्रातः गृहपतिर्नो अग्निः सायं-सायं सौमनसस्य दाता
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम ॥
(अथ०—१९।५५।४)

५ ॥ ओ३म् एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति ॥
(ऋ०—१।१२४।३)

भावार्थ—(१) हे सोम रूप भगवान्!—हम सभी इस दिव्य दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर अभी से ही प्रातः कालीन सूर्य के सम निरन्तर बढ़ता हुआ नाना प्रकार के बल-वीर्य-पराक्रमादि को आनायास में प्राप्त करते रहें।

(२) हे प्रजापतेश्वर परमात्मन्!—हम सभी इस प्रभात वेला के ब्रह्म मुहूर्त में ही उठकर नाना प्रकार के श्रेष्ठ गुण-कर्म-युक्त योग तप साधनादि से सुन्दर शरीर-बल-वीर्य पराक्रम आदि रत्नों को धारण करते हुये उत्तम प्रजा, दीर्घायु-और नाना प्रकार के सम्पदादि ऐश्वर्यों को वीरता के साथ प्राप्त करते रहें।

(३) हे परमात्मन् !—हम इस ब्रह्म मुहूर्त में सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञानादि ऐश्वर्यों तथा सुख-शान्ति-आनन्द आदि से युक्त होवें। पूर्वाह्न के सूर्यसम निरन्तर बढ़ता हुआ हमें कल्याण के मार्ग प्रदर्शन होवें।

(४) हे गृहपति मालीक परमपिता परमात्मन् !—आपही हमारे प्रातः सायं उभय ब्रह्ममुहूर्त के सुख-शान्ति-आनन्द को प्रदान करने-कराने वाले हो। सभी प्रकार के ऐश्वर्यों को आपही प्रज्ज्वलित अग्नि के सम बढ़ाकर हमें उज्वलमय दीर्घायु को प्रदान करने वाले हो। इसलिए शत-सहस्त्र वर्षों तक आपके ज्योतिर्मय मुक्तानन्द को हमें प्राप्त होता रहें। ये ही हमारी आपसे कामना है। हमारी इच्छाएँ पूर्ण हों।

५ हे उषाकाल की दुहिता सदृश प्रत्यक्ष दर्शी अनन्त ज्योतिर्मय प्रभो !—आपका ज्ञान हमें उस प्रकार, निरन्त प्राप्त हो जिस प्रकार गौ आदि पशुओं से दुग्ध दोह सदृश हम निरन्तर इस सुमधुर प्रातः ब्रह्ममूहूर्त से ही सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान-मय अनन्त ज्योति को प्राप्त करते रहें। इस पवित्र उद्देश्य को लेकर ही हम अवाधगति, से अतीव प्रेय और श्रेय पथानुगामी प्रत्यक्ष दर्शी-ब्रह्मचर्य तेज-बल-सुख-शान्ति और परम आनन्द को प्राप्त करें।

इन मंत्रों के उच्चारण के पश्चात चाहे और भी भक्ति-भजन-श्लोकादि यथेच्छा बोल सकते हैं। उसमें कोई प्रतिबन्ध नहीं हैं।

॥५॥ पञ्चमः दर्पणः ॥ शयन के समय रात्रि सूक्त ॥

जिस प्रकार प्रातः सम्मिलित प्रार्थना होती है ठीक उस प्रकार ही वेद में सोने के समय में रात्रि सूक्त का वर्णन है। मनुष्यों को आदर्शमय जीवन यापन के लिए नित्य कर्म घड़ी के समान जीवन आदर्श को निर्माण करता है। शयन ही जीवन निर्माण का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। रात्रि में निद्रा

की अल्पावस्था ही सभी रोगों के जड़ें हैं। इसलिए नित्य नियम व्यवस्था के अनुसार शयन करना चाहिए। सोते ही स्वप्न आना, स्वप्नदोष होना, श्वास में विकृति होना ये सभी एक प्रकार का संस्कार दोष है। नित्य नौमैत्यिक कर्म के द्वारा शरीर को शुद्ध-पवित्र-निर्मल करने से, रात्रि में निद्रा भी आनन्द दायक होती है। निद्रा की मूल्यांकन धन-सम्पदादि से नियन्त्रण नहीं किया जा सकता। इसे केवल मात्र श्रेष्ठ संस्कार तथा नित्य नौमैत्यिक आदर्शमय जीवन यात्रा से ही नियन्त्रण किया जा सकता है।

अतः ईश्वर की व्यवस्था से निद्रा देवी की गोदी में पवित्र भाव से शयन के पूर्व निम्न मन्त्रों को अर्थ मनन सह सम्मिलित पाठ करें। प्रातः सम्मिलित प्रार्थना के सम अन्त में लघुजनों से "नमस्ते" और गुरूजनों के चरण स्पर्श के द्वारा आशिर्वाद लेकर बड़े श्रद्धा-भक्ति-विनय और पवित्र भावना से ओत-प्रोत होकर शयन करना चाहिए। मंत्र यथा : —

१ ॥ ॐ अधरात्रि तृष्टधूमशीर्षाणमहिं कृणु ।
हनू वृकस्य जम्भयास्तेन तं द्रुपदे जहि ॥

२ ॥ ॐ त्वयिरात्रि वसामसि स्वपिष्यामसि जागृहि ।
गोभ्यो नः शर्म यच्छाश्वेभ्यः पुरूषेभ्यः ॥(अथ०१६।४७।८, ६)

३ ॥ ॐ रात्रि मातरूषसे नः परिदेहि ।
उषा नो अह्ने परि ददात्वहतुभ्यं विभावरि ॥

४ ॥ ॐ यत् किं चेदं पतयति यत् किं चेदं सरीसृपम् ।
यत् किं च पर्वतायासत्वं तस्मात् त्वं रात्रि पाहिनः ॥
(अथ०—१६।४८।२, ३)

५ ॥ ॐ शिवां रात्रिमनुसूर्यं चहिमस्यमाता सुहवा नो अस्तु ।
अस्य स्तोमस्य सुभगेनिबोध येन त्वा वन्दे विश्वासु दिक्षु ॥
(अथ०—१६।४६।५)

भावार्थ—(१) हे रात्रि को प्रदान करने वाले रात्रेश्वर परमात्मन् !—इस गम्भीर आधेरात्र में नाना प्रकार के विषधर फुंकारने वाले सर्प, मार काट, लुट, करने वाले डाकु, छिपा के लेने वाले चोर, बदमाशों से आप हमें रक्षा करें।

(२) हे रात्रेश्वर भगवन् !—आपकी इस रात्रि में हम निवास करते हैं। और गहरि दिन में सोते हैं तथा निद्रावसान में जगते हैं। हमारे व्यक्ति-परिवार-गौ-घोड़े आदि सभी पशुयें महान सम्पद हिसाव से सभी को सुरक्षा कर सुखमय शरण प्रदान करें।

(३) हे मातृवत् पालकेश्वर !—यह रात्रि हमें माता के सम पालन करें। सूर्य के उदय से पूर्व उषाकाल में नियम से उठ जावें। सभी तरफ से आप हमें रक्षण-बर्धन-निर्माण-धारण-पालन-पोषण की सुव्यवस्था करते रहें।

(४) हे भगवन् !—हमारे गहरी निद्रावस्था में जो कुछ भी पतन होने वाले बाधा-विघ्न-विषधर सर्पादि से दंर्शन, कोई पवर्तादि से नाना रूप पतन आदि दैव दुर्विपाकों से सर्वदा आप हमें रक्षा करो।

(५) हे सुख शान्ति दाता परमात्मन् !—इस शुभ वेला के सूर्यास्त के अन्त उत्पन्न रात्रि के शितल छाया में मातृवत हमें रक्षा करो ! सोम रूप यह ऐश्वर्य शाली रात्रि हमारे लिए इस प्रकार वन्दनीय हो जिस प्रकार सारे संसार के श्रेष्ठ पुरुषों ने वन्दना किया है और ब्रह्ममुहूर्त में आपको वन्दना करके पाया है। उस प्रकार ही आप हमें सभी तरफ से प्राप्त हो।

॥६॥ षष्ठम् दर्पणः ॥ शुचि संकल्प ॥

शौचादि आवश्यक कर्म करने के लिए जब जाते हैं तब मार्ग में चलते समय में निम्न मंन्त्रार्थ मनन के साथ शौचादि शुचि कार्य में चलना चाहिए। इससे मानस संकल्पात्मक शुचि कार्य में सुन्दर प्रभाव पड़ता है।

१ ॥ ओ३म् इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत् ।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् ।
आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु ॥ (य०—६। १७)

भावार्थ हे सर्व दोष नाशक परम दयालु देव भगवन्!—आपके प्रदत्त पिया हुआ जल से हमारे शरीर के अन्दर वायु-पित्त-कफादि त्रिदोष जनित घृणित जकड़ा हुआ मल-मूत्र-धर्म आदि सभी दोषों को बाहर निकाल दो! पेट के अपान वायु आदि भी विमोचन कर दो जिससे सदा आनन्द निरोग फुर्ति आदि बना रहें।

॥७। सप्तमः दर्पणः ॥ दन्तमार्जन ॥

प्राणी मात्रों में दाँतें ही अमूल्य सम्पत्ति है। परन्तु इस दाँत के अयत्न से या मूर्खता वशतः इन दातों को ही खो बैठता है। दातों के खोने से ही निरस और निराशामय जीवन बनने लग जाता है। अतः सरस जीवन के लिए दातों के अवश्य ही सुरक्षा करें। प्रातः उठते ही ठण्डे जल से मुंख-आंख प्रक्षालन करें। दाँतों के ऊपर बरावर दाँत रख के जोर से मछरों में दवावें। दतून को जोर से चबा चबा कर दतून करें। भद्र-शान्त-निश्चित समय में, एकाग्रता से मञ्जन या ट्रुथ ब्रश करें। दतून या ब्रश कोमल होना चाहिए। कार्य करते, चलते-फिरते,

वार्तालाप करते हुए कभी भी मञ्जन न करें। दूसरे का प्रयोग किया हुआ दतून या ब्रस का प्रयोग न करें। जिह्वा को ताँवा-चान्दी-स्टेनलेस-स्टील की जी भी से साफ करना चाहिए।

भोजन के पश्चात् या पाना आहार के बाद मुंह दातों के अवश्य अच्छे प्रकार सफाई करना चाहिए। विशेष करके रात को सोते समय के पूर्व अवश्य ही मञ्जन करके सोवें। इससे प्रातः उठकर मुंह को गन्दा नहीं मिलेगा। मुंह के परिष्कार से पेट का भी सुन्दर प्रभाव रहता है। सायं सोते समय एक कलिया मिर्चा चवा कर दतों के जड़ों में जिह्वाग्र से लगाकर सोने से और भी दात दृढ़ रहता है। भोजन पानादि के खाने-पीने के समय में उष्ण और शीतल का विपरीत वस्तु या पेय का साधन प्रयोग न करें। दात कमजोर तथा दरद-लगना आदि नाना रोग उत्पन्न होता है।

ईश्वर के दिया हुआ दतों से हमें क्या-क्या चवा-चवा कर खाना चाहिए तथा दांतों की सुरक्षा क्यों कैसे तथा किस रूप में करें सो उसे अपने रूप से सभी को मनन करके श्रद्धा-भक्ति और शान्त स्वभाव से निम्न मंत्र को अर्थ मनन सह बोलकर ही सभी लोग दन्त मञ्जन करें।

१ ॥ ॐ व्रीहिमत्तं यवमत्तं अथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय।
दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥ (अथ० – ६। १४०। २)

भावार्थ—हे परमात्मन्!—आप ही के दिया हुआ दांतों की सुरक्षा करते हुए आपकी सृष्टि की यवगम भाष-तिल आदि सात्विक अन्न-फल-मूलादि कन्दों के सेवन भले प्रकार चवा-चबाकर खावें। हम कभी भी पित्रि-मातृ मौथुन जात पदार्थों के सेवन न करे। "मा हिंसिष्ट पितरे मातरं च" अर्थात् माता-पिता की जोड़ें से, मौथुनी रूप सृष्टि का साधन हिंसा के द्वारा ही प्राप्त होते हैं। इसलिये उसका हम सेवन न करें।

॥८। अष्टमः दर्पणः ॥ योगासन व्यायाम् ॥

योग कहते हैं संग्रह-एकत्र-मिलनको। व्यायाम कहते हैं विशेष प्रकार आयाम या विस्तार अथवा फैलाव को। उसका मूल साधन है शरीर। शरीर ही धर्म-अर्थ काम-मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि का साधन। अतः विशेष प्रकार बल-वीर्य-पराक्रम के साथ शारीरिक-मानसिक-आत्मिक शक्ति का चारों तरफ से विस्तार करना ही योगासन व्यायाम का महत्व है। नित्य प्रतिदिन नियत समय पर प्रत्येक युवक-युवती पुरुष महिलाएँ सभी को अनिवार्य रूप से योगासन व्यायाम आदि करना चाहिए। शारीरिक व्यायाम आसनादि से शरीर के सप्त धातु का शोधन होता है। रस-रक्त-मांस मेध-आस्थि मर्या-वीर्य आदि के उत्तमरूप निर्माण धारण पालन-पोषण आदि शक्ति का संचार होता है।

आलस्य प्रमाद से पोष्टिक खाने-पीने वालों के धातुओं में रक्त घन होने से रक्त-चाप-धातु-दौर्बल्य-हार्ट-गेस पित्त-लिवर-आमाशय-कोष्ट काठिन्यता-वात-अलसार चर्वी, मोटापा इत्यादि नाना प्रकार रोगों में जकड़ लेता है। घरों में नौकर-चाकर-तथा सुख के ज्यादा साधन ही स्वस्थ शरीर मन-बुद्धि के निर्माण के लिए घातक हैं। अर्थात आराम का जीवन ही व्याधियों के पैदावार है। इसलिए अपने २ कार्य बड़े उत्साह से जब पुरुष-महिलाएँ करते रहते हैं तो राग-द्वेष-कलह-विवाद करने का समय ही नहीं मिलता। कार्य करने वालों के रुपये पैसे का भी अभाव नहीं होता। नौकर-चाकरों के वेतन-चुरी-का भय-व्यर्थ खरचा भी कम हो जाता है। विदेशों में इसे सेल्फ सर्विस कहते हैं अर्थात सभी कार्य घर के सभी लोग मिलकर पर्याय से जब करते हैं तब स्वाधीन जीवन बनता है। अपना जीवन निर्माण का कार्य अपने आप न करना ही घोर पराधिनता

का सहारा बन जाने से सभी रोगों का अड्डा बन जाता है। अतः नित्य प्रतिदिन व्यायाम से पूर्व निम्न मंत्रों को अर्थ मनन सह मधुर भावना से उच्चारण करके व्यायाम करना चाहिए। मंत्र यथा :—

१ ॥ ओ३म् इमं यवमष्टायोगैः षड् योगेभिरचकृषुः ।
तेना ते तन्वोरपो अपाचीनमपव्यये ॥ (अथ०—६ ।९१।१)

२ ॥ ओ३म् समुद्रस्य त्वावकयाग्ने परि व्ययामसि ।
पावको अस्मभ्यं शिवोभव ॥ (यजु०—१७ । ४)

३ ॥ ओ३म् हिमस्य त्वा जरायुणाग्ने परि व्ययामसि ।
पावको अस्मभ्यं शिवो भव ॥ (यजु—१७ । ५)

भावार्थ - (१) हे जगन्नियन्त्रा परमात्मन !—हमारे शरीर मन बुद्धि इन्द्रिय आदि के साथ आत्मा को मिल-मिलाप के लिए उत्तम रूप से यम-नियम–आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान धारणा-समाधि इन अष्टांग योग द्वारा षट् रसादि अम्ल-मधु-तिक्त-कषा-लवण-कटु आदि के सहारा से यह शरीर शुद्ध-पवित्र-निर्मल बनाते हैं, जिससे सभी प्रकार के पाप-रोग-जड़ा-आधि-व्याधिओं के विनाश हो जावें।

(२) हे अनन्त ज्ञान समुद्र के मालिक अग्निदेव परमात्मनः—हम आपकी कृपा से शरीर की सुरक्षा के लिए सभी प्रकार के अङ्गों के संचालित व्यायाम करते हैं जिससे हमारे शरीर में उष्णता बढ़कर पापादि रोग दोषों को दग्ध हो जावें और हृष्ट-पुष्ट-बलिष्ट-सुख-शान्तिमय जीवन बना रहें।

(३) हे अग्निदेव परमात्मन् :— हम मातृ गर्भ में जरायु से ढके हुए के सम आलस्य प्रमाद अकर्मन्य के सम आवद्ध न रहे। सर्वाङ्गीन संचा-

लित व्यायाम से शरीर में गरमी को उत्पन्न करके झड़-वृष्टि-तूफानों के सम शरीर के अन्दर का धातु विकार आदि नष्ट-भ्रष्ट कर दे जिससे हमारा सुख-शान्ति के साथ मस्तिमय जीवन बना रहे।

॥६॥ नवम दर्पण: ॥ विश्राम् ॥

व्यायाम के पश्चात् विश्राम अत्यावश्यक है। जब शरीर घर्मांक्त हो जाता है तब शरीर के उष्णता को शान्त के लिए विश्राम चाहिए। विश्राम ही शान्ति का प्रतीक है। शान्ति को संग्राम से ही अर्जन किया जाता है। कठोर शारीरिक योग-तप-आसन-व्यायाम-प्राणायामादि के संग्राम बिना शांतिप्रद आनन्ददायक सुन्दर-बलवान-वीर्यवान जीवन नहीं बनता। इसलिए वेद भगवान भी कहा है कि—"अतप्त तनुः र्न तदाम अश्नुते" अर्थात् शारीरिक-मानसिक-आत्मिक तपस्या के बिना मुझे अर्थात ईश्वर को कभी पा नहीं सकता।

अतः तपोमय शरीर ही शान्ति के प्रतीक होने से शान्त-पवित्र-निर्मल भावना से विश्राम करने के लिए निम्न मंत्र अर्थभावना के साथ उच्चारण करें। सर्वदा ॐ का ही मानस जप अन्त में चलता रहे। विश्राम के लिये सर्वदा शवासन उत्तम है। अन्ततः १५।२० मिनट शवासन में पूर्ण विश्राम हो जाता है।

१ ॥ ॐ शान्तानि पूर्वं रूपाणि शान्तं नोस्तु कृता कृतम् ।
शान्तं भूतंश्च भव्यञ्च सर्वमेव शमस्तु नः ॥(अथ०—१६।६।२)

भावार्थ :—हे सर्वरक्षकेश्वर शान्तिदायक प्रभु परमात्मन!—हमारे इस दुर्लभ मानव शरीर के त्रिदोष त्रिताप-तृकालों के रोग-शोक-संतापादि दूर हो जावें। सभी ज्वालाएँ दुख-दर्द दीनता आधि-व्याधि सभी कुछ

नष्ट-भ्रष्ट हो जावें। भूत-भविष्यत-वर्तमान समय आदि हमारे लिए सर्वदा शान्ति ही शांति दायक रहें।

इसके पश्चात बड़े श्रद्धा-भक्ति-प्रेम के साथ शान्ति से स्नान करे।

॥१०॥ दशम् दर्पणः ॥ स्नान ॥

स्नान करने से शरीर को नवीनता में लाया करता है। परमात्मा ने वर्षा के द्वारा सारे जड़ चेतन संसार को भी स्नान कराते हैं। यहाँ तक की सभी वृक्ष-वनस्पति आदि भी उत्तम जल सिञ्चन के द्वारा नवीन पत्र-पुष्पादि के साथ हरियाली को प्राप्त करता है। अब मनुष्यों के लिये तो कहना ही क्या है? स्नान करने से ही शरीर में तुरन्त चमक आती है, भला ऐसा स्नान विधि को आलस्य-प्रमादि-निकम्मे-अज्ञानि लोगों ने भ्रष्ट कर दिया है। थोड़े से पानी डालकर ही उछलता हुआ भागने को तैयार रहता है। अब उसके शरीर-मन-बुद्धि में शान्ति का छाप कब पड़ेगा? अतः उसे स्नान का आनन्द ही नहीं मिलेगा।

चमड़े को अच्छे प्रकार रगड़ २ करके ज्यादा पानी से स्नान करना चाहिए। तलाब-नदी आदि जलाशयों में तैरता हुआ स्नान और भी उत्तम है। स्नान घरों में स्नान के समय में शरीर को अच्छे प्रकार रगड़ रगड़ कर स्नान करें। यहां तक की कपड़े धोने का ब्रुश ही शरीर के सर्वत्र रगड़ने से वात रोग दूर होता है। हार्ट का रोगी और रक्त चापादि रोगिओं के लिए शरीर को ज्यादा रगड़ना महौषधि है। स्नान के पश्चात शरीर के कहीं पर पानी न रहें। अच्छे प्रकार खादीअंगोछे से रगड़ने से पानी के ठण्डे असर उतर कर चमकदार वायुमण्डल का उत्पन्न करता है अर्थात चेहरे में रोणक आती है। चर्म रोग नहीं होता। [illegible] आती

है। अतः स्नान से पूर्व अतीव श्रद्धा-भक्ति के साथ शान्तिदायक निम्न वेद मंत्रों के उच्चारण करते हुए स्नान करना चाहिए।

मंत्र यथा :—

१। ॐ इदमापः प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि।
यद्वाहमभि दुद्रोह यद्वाशेप उतानृतम् ॥

२। ॐ आपः पृणीत भेषजं वरुथं तन्वे मम।
ज्योकच सूर्यं दृशे ॥

३। ॐ अप्सुमें सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुवम् ॥

४। ॐ शंनो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्त्रवन्तु नः ॥

(ऋ०—१०।९।८.७.६.४)

भावार्थ :—(१) हे सर्वत्र विराजमान आपः परमात्मन्!—आपका दिया हुआ यह जल हमारे शरीर में ऐसे प्रवाहित हो जिससे शरीर में कहीं पर कुछ भी मलावद्ध दोष-रोगादि आवद्ध होकर न रहें।

(२) हे जगदीश्वर!—यह जल हमारेजीवन का रक्षाबन्धन या बया कवच के सम सभी तरफ से हमारे शरीर को सुरक्षित रखें।

(३) यह जल शरीर के अन्दर के सारे के सारे गोपन स्थानों के रोग शोक भी शुद्ध-पवित्र-निर्मल करता हुआ अन्दरुनी बीमारीया निकल देवें तथा यह जल सर्वदा औषधि के सम कार्य देवें।

(४) हे परमात्मन!—यह कल्याण=शान्तिदायक जल वर्षा के सम शरीर के अन्दर सर्वत्र ही वर्षन करें और दोषादि मल निकल जावें।

प्रश्न—पूज्यपाद वेदाश्रयी जी महाराज !—हम कुछ बात पूछ सकते हैं ?

उत्तर—अवश्य ही। विना जानकारी से ज्ञान कैसे होवें ? अतः हृदय खुलकर प्रश्न करो लेकिन सर्वदा ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से हो। तर्क-वितर्क से ज्ञान ठहरता नहीं। मन बुद्धि में सुखापन, निरस, कठोर, दुराग्रही बनता है।

प्रश्न - वेदाश्रयी जी महाराज !—अपने तो बहुत सारे नये-नये कर्म संस्कार का निर्माण किया है। इस प्रकार तो किसी ने वताया नहीं है ?

उत्तर—हम अपने ढंग से कुछ भी निर्माण नहीं किया है। वेद ज्ञान दाता परमेश्वर ने चारों वेदों को मनुष्य मात्र के लिये दिया है। अब मनुष्यों को उचित है कि सभी प्रकार के ज्ञान-कर्म-उपासनादि वेद मन्त्रों के अनुसार करें। जब मनुष्यों ने वेद को छोड़कर अपने-अपने गुरुवाद सिद्धान्त बनाया है तभी से "मुण्डे-मुण्डे मति भेद भाव" उत्पन्न हुआ है। गुरु को ही ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर रूप स्वीकार करने से सृष्टि कर्त्ता ब्रह्मा, पालन कर्त्ता विष्णु और संहार करने वाले एक ही शिव को भूलकर ब्रह्मा-विष्णु-शिव के स्थान पर स्वयं गुरु ही प्रवेश कर बैठा है। अतः हमने गुरुवाद को प्रधान्यता न देकर सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का ही प्रदत्त वेद मन्त्रों से ही यह "संस्कार दर्पण" लिखा है। इसलिए "वेदालोक संस्कार दर्पण" के सभी प्रमाण वेद का ही है। हमारा नया रूप कुछ भी नहीं है। मनुष्य के सामने अज्ञानता के कारण ही नये २ रूप ज्ञात होते हैं।

प्रश्न वेदाश्रयी जी महाराज ! – अपने जो इतने प्रकार संस्कार, दर्पणों के क्रिया-कर्म बढ़ाया है सो इसका आचरण कौन करेगा ? समय तो किसी के पास है नहीं ?

उत्तर—देखो ! – अलसी, प्रमादी, निकम्मे लोगों को तो कभी भी किसी कार्य में समय नहीं होता। सदाचारी, उत्साही, पुरुषार्थी लोग जब रोजाना कुछ दिनों तक इसका व्यवहार करेगा सो अल्प दिनों में अभ्यास हो जाने से उन्हें समय ही मिलता है। अलसी-अकर्मण्य-प्रमादी लोगों को विस्तरा छोड़ने में भी समय नहीं मिलता। उन्हें अच्छे कार्य में कहां पर समय मिलेगा ?

प्रश्न – वर्तमान में आफिस-अदालत-दोकान-मकान-रूटी कपड़ों के लिए इतने व्यस्त है सो उन्हें समय कब मिलेगा ?

उत्तर-चञ्चल-अशान्त व्यक्तियों के जो भी अपना २ कार्य मूल्यवास समझ कर करते हैं सो उसमें भी उन्हें शान्ति का समय नहीं है। सर्वदा वेचैन-मजबुरण-बाध्यता से कार्य करता है। खाना-पीना-सोना-पढ़ना-साधना करना-परोपकार करना-धर्म कार्यादि योग-तप-जप-उपदेश श्रवन आदि श्रेष्ट कर्मों में उन्हें कभी भी समय नहीं मिलता परन्तु कुसंग-तास-खेला, चाय के दोकानों में अड्डा मारना, झगड़ा, आलोचना-निन्दा-गन्दे कार्य आदि सभी दोषयुक्त कार्यों में फंसा रहता है और अच्छे कार्यों के लिए समय नहीं है बोलना ही दुराग्रही का परिचय है।

प्रश्न—ऐसा क्यों होता है ! महाराज जी ?

उत्तर—उसका एक मात्र कारण है अनियम-अव्यवस्था-वेहिसावि।

प्रश्न—नियम-हिसाव और सुव्यवस्था से समय कैसे मिलेगा ?

उत्तर—उसका मैं हिसाब देता हूँ—सुनो एवं विचार करो !—प्रातः समय उठने के लिए, पहले दिन रात को ठीक १० बजे सो जाओ। आलतु-फालतु समय नष्ट न करो। कू संग का त्याग दो। गन्दे २ चित्र नाटक-नवेल-सिनेमा आदि में समय न लगाओ। उसमें संस्कार बिगड़ता

है। गन्दे २ चित्र-नाटक-सिनेमा आदि से बिगड़ा हुआ कु संस्कारों के ज्यादा प्रभाव पड़ता है। अनिद्रा-अनाहार-उच्छृङ्खलता-पागलपना-अखाद्य खान-पान करना, दुराचारों में फंसजाना, इस में लघु, गुरु का ज्ञान भी खो बैठता है। शरीर टूट जाता है। रोग-शोक पकड़ लेता है। रात्रि को १०, ११, १२, १, २, ३ बजे कु संग में जागते रहते हैं। बाद में नींद की नशे की गोली प्रयोग करके थोड़े देर के बाद स्वप्नावस्था में करवटें फिरता बदलता रहता है। अन्त में भोर ४, ५ बजे नींद आती है और ७, ८ बजे उठते ही अपने आफिस-आदालत-दोकान-सर्विस के कार्यों में भागते रहते हैं। अपने शान्ति से खाने का भी समय नहीं है। वह व्यक्ति सर्वदा ही मजबुरन आलस्य-प्रमाद-क्रोध-अशान्ति से निरन्तर ही भागता रहने से भला यह दुःखिया ईश्वर उपासना-योग तप साधना, स्वाध्याय-भजन-कीर्तन-स्नान-व्यायाम आदि श्रेष्ठ कर्मों को कब करेगा? उसे तो अपना मरने का भी कोई समय नहीं है? अर्थात् उत्तम कार्य में समय नहीं है और गन्दे कार्यादि से छुटकारा नहीं। ये ही एक मुसिबत का जीवन बनाता है।

प्रश्न—महाराज जी!—नाटक-नवेल-सिनेमा-इष्ट-मित्र संग, परास्पर मेल-मिलाप से बुद्धि तेज-आनन्द-स्फुर्ति-बुद्धि के निपुणता आदि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होता है। इस ऊमर में कुछ आनन्द तो लुटना ही चाहिए!

उत्तर—यह बात तुमको मालुम नहीं है—कि तुम्हारा ही आनन्दमय जीवन को लुटता चला जा रहा है। तुम जैसे अभागा को आनन्द का पता ही नहीं है। नौजवानों के जीवन में, होश ही खोया हुआ है। तुम गहराई से बिचार करके देखो कि परिवार में सच्चा प्यार नहीं, पिता-माता के प्रति सच्ची आदरभाव नहीं, समाज, संगठनों में सम्मान नहीं,

अच्छे संगतों में प्रतिष्ठा नहीं, बुद्धि-ज्ञान-विवेक में अधिकार नहीं। गृहस्थ कार्य में अर्थ नहीं, आय-व्यय का हिसाब नहीं, बच्चों के प्रति ध्यान नहीं, दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव में रुची नहीं, कर्म में कुशल नहीं. ईश्वर के प्रति विश्वास नहीं. अब बोलो कि तुम्हारा आनन्द किसमें है और कैसे ले लोगे ?

प्रश्न—महाराज जी !—आपके नियम अनुसार इतने विषय है कि उसके लिए बहुत समय लगेगा और याद भी करना पड़ेगा ?

उत्तर—देखो !—बिना याद में जीवन ही नहीं होता। याद से ही संस्कार बनता है। संस्कार से ही नवीनता को प्राप्त होती है। मन को अच्छे संस्कार युक्त खोराक देने से वह मन बेहुदा अनर्थ इधर-उधर नहीं भटकता। इसलिए इस "वेदालोक संस्कार दर्पण" ग्रन्थ में मानव जीवन को सुसंस्कृत करने के लिए विभिन्न प्रकार के दर्पण बनाया। यह जीवन का ही दर्पण है। सारे दिन कुछ न कुछ संस्कारों के अच्छे वाईब्रेशन उत्पन्न ही होता रहेगा। इससे दूसरों को भी उपकृत करने का अवसर मिलता है। अच्छे-अच्छे संस्कारों के बन्धन न होने से अनाप-सनाप, आलतु-फालतु, अनर्थक बकवाद करता रहता है। जिस प्रकार बिना आंख वाले अन्धा व्यक्ति दूसरों को पथ चलने का मार्ग प्रदर्शन नहीं कर पाता। उस प्रकार ही उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव युक्त श्रेष्ठ संस्कारों के बिना दूसरों का भी कल्याण कर नहीं सकता।

अतः प्रातःकाल से उठते ही ईश्वर का स्मरण, जल पीना, प्रार्थना. शौचजाना, दातून करना, व्यायाम करना, स्नान करना, सन्ध्या उपासना करना, खाना-पींना, सोना, यज्ञादि पूजा-पाठ करना इत्यादि सभी कार्य में समय ब्यर्थ नहीं हो पाता। निरन्तर श्रेष्ठ कार्य में लगे रहना। उत्तम संस्कार के बिना ही भूत के सम कल्पना-जल्पनामय असङ्ख जीवन होता

है। उत्तम संस्कारों से मनुष्य देवता बन जाता है। इसलिए ईश्वर का बनाया हुआ संसार रूप वाटिका से हम कुछ भी खाते-पीते हैं सो उन्हें बोलकर, यादकर, स्तुति-प्रार्थना उपासनादि करके ही ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा चोर कहलावेगा। ईश्वर को याद करके सभी कुछ प्रयोग करने से मनोबल-आत्मशक्ति बौद्धिक विकाश होता रहता है।

॥११॥ एकादश दर्पण: ईश्वरोपासना ॥

ईश्वर उपासना से पहले कुछ आवश्यक बातें जानना चाहिए। प्रायः लोगों में यह प्रश्न उठता है कि ईश्वरोपासना क्यों करें ? उस से क्या लाभ होता हैं ? पहले शब्द के अर्थ को मनन करें। उपासना शब्द का अर्थ है समीप में बैठना। उप उपसर्ग पूर्वक आस धातु से उपासना शब्द निष्पन्न होता है।

यह एक सामान्य बात है कि जिसके पास जो बैठेगा उसके ही गुण कर्म स्वभाव बैठने वाले में आयेंगे। संग के रंग से कोई बच नहीं सकता। ईश्वर के समीप में बैठने से ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव ज्ञान न्याय दया क्षमा परोपकार आदि गुण ऊपासक में आयेंगे। अब जिज्ञासा होगी कि जब ईश्वर दिखाई नहीं पड़ता तो उसके समीप में आसन कैसे लगाया जा सकता है ?

उपासना दो प्रकार की है—(१) जड़। (२) चेतन। मन बुद्धि आदि के द्वारा आत्मा जब जड़ जगत् के विषयों के पास ठहरता है या उसका चिन्तन करता है तब उस स्थिति को जड़ उपासना कहते हैं और जब वही चेतन जीवात्मा साधना करता हुआ सत्य गुण सम्पन्न मन बुद्धि आदि के द्वारा परमात्मा में अनुरक्त होता है तब परमात्मा के सत् चित् आनन्द स्वरूप व उसके अनन्त सामर्थ्य ज्ञान, न्याय दया क्षमा

परोपकार आदि गुणों का ध्यान अर्थात् चिन्तन करता है। उस स्थिति को चेतन उपासना अर्थात् ईश्वरोपासना कहते हैं। इससे ईश्वर के साथ सन्धि होती है। अतः इसे सन्ध्योपासना भी कहते हैं।

ध्यान शब्द का अर्थ रूप दर्शन नहीं होता है अपितु चिन्तन होता है। व्याकरण शास्त्र के अनुसार चिन्तन अर्थ मूलक "ध्यै" धातु से 'ल्युट' प्रत्यय तथा उसे 'अन' आदेश करके ध्यान शब्द निष्पन्न होता है।

परमात्मा रूप रस गन्ध आदि गुणों वाला नहीं है। इसलिए वह इन नेत्र जिह्वा व नासिका आदि के द्वारा देखने चखने या सूंघने आदि का विषय नहीं है। अतः वह ज्ञान सम्पन्न चेतन तत्व है स्वतः वह ज्ञान-पूर्वक चेतन आत्मा द्वारा निर्मल अन्तकरण से चिन्तन का विषय हो सकता है। आत्मा पर विकारी अन्तःकरण आवरण बनाए रखता है उसके हटाने के लिये यम नियम आसन प्राणायामादि साधनों की आवश्यकता होती है। शरीर रूप साधन से साधक ही ईश्वरोपासना में सफल होता है और ईश्वरोपासना से ही साधन प्राप्त होते हैं। इसलिए परम-श्रद्धाभक्ति से परमात्मा की उपासना करनी चाहिए। उसकी स्तुति और प्रार्थना करना उपासना का प्रारम्भिक रूप है। ईश्वर की उपासना के बिना कोई भी जीवात्मा निर्मल अन्तःकरण वाला नहीं हो सकता है और नहीं वह अपने जीवन में ज्ञान सत्य न्याय दया परोपकार आदि सद्गुण धारण कर सकता है। सामर्थ्य सम्पन्न ज्ञानवान् बनाने हेतु ईश्वर की उपासना इस प्रकार करें—

प्रथम दर्पण से दशम दर्पण तक बताए गये नित्यकर्मों को करके स्नान के पश्चात् ईश्वरोपासना के लिए उसके निमित्त निश्चित किए हुए नूतन निर्मल उत्तम वस्त्र धारण करे। आप मित्रों से मिलने के लिए जाने हेतु सदा नूतन वस्त्र पृथक् रूप से रखते हैं और वापस आते ही उतार कर

स्वच्छकर रख देते हैं फिर जो हमारा सबसे बड़े मित्र परमपिता परमात्मा है, उससे मिलने के लिए पृथक् रूप से नूतन उत्तम वस्त्र क्यों न रखे जायं? अर्थात् अवश्य रखे जायं और ईश्वरोपासना के पश्चात् उनको उतार कर रख दिये जायं। नित्य नैमित्तिक यज्ञ व ईश्वरोपासना में अहिंसक शुद्ध कौशेय वस्त्र (रेशम से बने वस्त्र) व शुद्ध ऊन से बने वस्त्र उत्तम हैं। इनके अभाव में सूती खादी वस्त्र धारण करें। शुद्ध पालियस्टर टेरीन स्ट्रेचलान आदि सिन्थेटिक वस्त्र धार्मिक कृत्यों में कदापि धारण न करें। साधारणतया भी ऐसे वस्त्र नहीं पहनना चाहिए। ये वस्त्र शीघ्र ज्वलनशील, शरीर में चिपकने वाले तथा उत्तेजक होते हैं। मजबूती सफाई व अर्थबचत की दृष्टि से ५०×५०, ६७×३३ टेरीकाट के कोमल वस्त्रों को जीवन यापन में ग्रहण करना व्यावहारिक है।

उत्तम आसन व पवित्र जल आदि आवश्यक पदार्थ यथा स्थान सजाकर एकाकी अथवा आश्रम व परिवार में सम्मिलित रूप से स्थिर सुखासन से बैठकर बाएँ हाथ से दाएँ हाथ की गादी में जल लेकर एक बार मन्त्र बोले और हाथ में लिए हुए जल को पीने तत्पश्चात् दो बार और पी लेवे इस कर्म को आचमन कहते हैं। इसमें श्रद्धा भक्ति से यह मन्त्र बोलें —

ओ३म् शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः।

॥ ऋग्वेद १०/९/४॥ यजुर्वेद ३६/१२॥

इस प्रकार आचमन के पश्चात् हाथ धोकर बाएँ हाथ की गादी पर जल लेकर दायें हाथ की मध्यमा और अनामिका अंगुलियों को अग्र भागों से जल का स्पर्श करके श्रद्धा-भक्ति प्रेम के साथ निम्नोक्त निर्दिष्ट भागों दिशाओं में जल छिटके — साथ ही यह मन्त्र बोलें :—

जल छिरकने का मन्त्र :

ॐ चित् पतिर्मा पुनातु (ब्रह्मरन्ध्र या सर के ऊपर हाथ करके)

ॐ वाक्पतिर्मा पुनातु (वाणी या मुख के सामने हाथ करके)

ॐ देवो मा सविता पुनातु (हृदय अर्थात् वक्षस्थल पर)

ॐ अच्छिद्रे ण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः (सूर्य की ओर)

ॐ तस्य ते पवित्रपते पवित्र पूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम् ।।

(ऊपर और आगे पीछे से समस्त शरीर पर जल छिटकें) यजु० ४ ४।।

भावार्थ :- इस मन्त्र में भगवान् से अपने शरीर के ब्रह्मरन्ध्र वाणी और हृदय में पवित्रता भरने की पावन कामना की गई है। अपनी पवित्रता के साथ समीपवर्ती दिशाओं में सब ओर पवित्रता रखने की भी शक्ति के लिए भगवान् से प्रार्थना की गई है।

पुनः नवीन रूप से बाएँ हाथ की गादी पर जल ले लेवे। तत्पश्चात् समस्त अङ्गों में उनकी शक्ति आजीवन उत्त. रीति से रहे यह कामना करते हुए निर्दिष्ट स्थानों में पूर्वोक्त दोनों अंगुलियों से प्रत्येक वार जल ले लेकर अंग स्पर्श करे साथ-साथ ये मन्त्र बोले—

अङ्ग स्पर्श मन्त्र :

ॐ वाङ्म आसन् । हे प्रभो ! हमारी वाणी शक्तिदायक हो)

ॐ नसोः प्राणः । (हमारा प्राण नासिका में शान्ति से चलें)

ॐ चक्षुरक्ष्णोः । (हमारी आंखें शान्ति से देखें)

ॐ श्रोत्रं कर्णयोः । (हमारे कानों में श्रवण शक्ति बनी रहे)

ॐ अपलिता केशाः । (हमारी केश अपरिपक्व रहे)

ॐ अशोणा दन्ताः । (हमारे दांते निरोगमय स्थित हों)

ॐ बहु बाह्वोर बलम् ।। (हमारा बाहु बलवान हो)

ॐ ऊर्वो रोजो । (उसमें उर्जाशक्ति बनी रहे)

ॐ जङ्घयोर् जवः । (जङ्घों में शक्ति रहे)

ॐ पाद्योः प्रतिष्ठा । (पैरों में प्रतिष्ठा हो)

ॐ अरिष्टानि मे सर्वात्मानि भृष्टः । (अथ० १६।६०।१-२॥

(सारे शरीर को लेकर आत्मा शान्ति से निवास करे।)

अथ प्राणायाम विषय यथा :—

अत्र धीर स्थिर शान्त पवित्र निर्मल भाव से शरीर मन बुद्धि की शुद्धि के लिए प्राणायाम की विधिव्यवस्था को जानना चाहिए। यह साधना और जीवन-यापन के लिए महत्वपूर्ण अध्याय है। इस ब्रह्माण्ड में नित्य नए-नए रूप परिवर्तन के लिए ईश्वर ने छह ऋतुओं का निर्माण किया है। ऋतु परिवर्त्तन से वायु परिवर्त्तन होता है। वायु परिवर्त्तन से ही शीत वर्षा गरमी का उतार-चढ़ाव होता रहता है। उसके प्रभाव से ही पूर्णिमा व अमावस्या में जलाद्र भाव धारण होकर प्रकृति में विकार उत्पन्न होता है। उसी आद्र जल वायु द्वारा जड़ और चेतन सृष्टि में नित्य नवीन रचना विकार व विनाश होता रहता है। 'यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे' जो तत्व ब्रह्माण्ड की रचना में लगे हैं वही तत्व शरीर पिण्ड की रचना में लगे हैं।

प्राणियों में जब कोई भी रोग या क्रोध, शोक-सन्ताप आदि मानस विकार होते हैं तब उनका दुष्प्रभाव सीधे प्राणवायु के ऊपर ही पड़ता है।

प्राणवायु से ही जीवन गाड़ी चल रही है। प्राणों पर आघात होने से जीवन पर आघात होता है जिससे आयु में कमी आती है। आयु बढ़ाने और शारीरिक तथा मानसिक रोगों से दूर होकर स्वस्थ व सुखी रहने का उपाय बनता है। इसलिए विधिव्यवस्था से प्राणायाम करना चाहिए।

जिस प्रकार लौह आदि धातुओं को अग्नि में तपाकर उसके मलों को दूर किया जाता है और उन्हें नया रूप प्रदान किया जाता है। उसी प्रकार प्राणायाम से शरीर के धातुओं के दोष दूर किए जाते हैं। प्राणायाम करने से शरीर में विद्युत् रूप अग्नि उत्पन्न होकर धातुओं को निर्माण करके शरीर के अङ्गों को चमकदार व वाणी को मधुर बनाता है। जीवन दीर्घजीवी होता है। मानसिक शक्ति बहुत बढ़ जाती है। बुद्धि तीव्र हो जाती है। अन्तःकरण सत्वगुण सम्पन्न हो जाता है। मुक्ति पर्यन्त साधक की उन्नति होती रहती है। प्रज्वलित उज्जवल रक्तवर्ण के सम मन बुद्धि-इन्द्रियादिओं में चमक दमक-लालिमा आजाती है। ये ही शरीर शोधन की एक उत्तम उपाय है। इसलिए यह महत्वपूर्ण प्राणायाम कार्य योगादि साधना के अनुकूल करना चाहिए। शरीर में त्रिदोषनाश के लिए अर्थात् वायु-पित्त-कफादि के विकारों को नष्ट करने के लिए निम्न स्थान में विभिन्न प्रकार प्राणायोमों के विवरण लिख रहे हैं। अथर्ववेद का ६।१०६।३ में "इयंयवमष्टायोगैः" प्रमाण से अष्टांग योग का महर्षि पतञ्जली ने भी साथक किया।

योग के अष्टांग रूप यम-नियम-आसन-प्रत्याहार-धारणा ध्यान और समाधि का वर्णन प्रायः सभी को ज्ञात है। यम को पांच भागों में सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह को कहा है। नियम को भी पांच भागों में शौच-संन्तोष-तपः-स्वधाय-ईश्वर प्रणिधान के रूप में अष्टादश रूप बन जाता है। संयमी जीवन बनाने के लिये यम के पांचों शाखाएं अत्यावश्यक

है। अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य अपरिग्रह आदि योग के प्रारम्भरूप है। जब मनुष्य अपने जीवन में कुछ संयम करेगा तब नियमादि के अर्थात शौच-सन्तोष-तप-स्वाधाय ईश्वर प्रणिधान के बिना संयम नहीं कर सकता।

अतः यम-नियम के बिना आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार ध्यान-धारण समाधि आदि एक अन्य के परस्पर सहायक बन कर कार्य करता रहता है। इस प्रकार यथाक्रम शृङ्खलाबद्ध जीवन बनाने के लिए पूर्णांग रूप से योग का अनुकरण करना चाहिए। जिस प्रकार नित्य प्रतिदिन क्षुधा-तृष्णा की निवारण के लिये समय से खान-पान तथा नियम व्यवस्था को पालन होने से शरीरहृष्ठ-पुष्ठ बलिष्ठ बनता है ठीक उसी प्रकार ही यह योग विद्या है।

आसन में बैठकर ही प्राणायाम करें। जिस आसन में ज्यादा देर तक बैठ सके तो उस प्रकार आसन में ही बैठकर प्राणायाम करें। आसन से या व्ययामादि से शरीर को स्वस्थ बनाने के पश्चात ही उत्तम रूप से प्राणायाम हो सकेगा। आसन के बेचैन से प्राणायाम में स्थायित्व नहीं आतेगा।

सन्ध्योपासना तथा प्राणायामादि करने से पहले दिशा का कोई प्रतिबन्ध नहीं है परन्तु इतना सर्वदा लक्ष रखना चाहिए जिसमें सन्ध्योपासना के समय सामने से दूसरों के चलने-फिरने का अवसर न रहें। उसमें मन विचलित होता है। एकाग्रता नहीं रहती। सामने से सर्वदा खुली हवा की शुद्ध वायु जिसमें प्राप्त हो सो उसका भी विशेष लक्ष रखना चाहिए। शौच पेशावादि के सामान्य मात्र भी वेग रहना नहीं चाहिए। खाली पेट शुचि शान्त-पवित्र भावना से ही आसन प्राणायामादि अष्टांग योग साधना करना चाहिए। प्राणायाम ही हठयोग है। हठ-

या अपने इच्छा के अक्कड़पन को कहते हैं प्राणायाम बहुत प्रकार के होते हैं। उनमें कुछ आवश्यक प्राणायाम का वर्णन करते हैं, जो सर्वदा मानसिक निश्चयरूप हठ् भावना से ही प्राण को लेना और छोड़ना होता है। अपने हठ् या इच्छानुसार प्राण के क्रिया को बदल देने से ही हृदय के कार्बन अंश उत्तेजित होकर निकल जाता है और आक्सीजन को ग्रहण करने का शक्ति हृदय में बढ़ता है। तभी जाकर श्वास नाली-फेफड़ों तथा हृदय यकृत आदि शुद्ध-पवित्र-वलवान और रोगमुक्त होता हैं। पाकस्थली के क्रिया बढ़ता है। शौच मूत्रादि मल दोष नष्ट होता है। हृदय रोग-रक्त-चाप-वात-विकार-चर्वी वृद्धि आदि के सभी प्रकार समस्या दूर होते हैं। शरीर-मन-बुद्धि और आत्म शुद्धि के अनुकूल वतावरण निरन्तर बढ़ता रहता है। इस उपलक्ष से ही निम्न प्रकार सभी प्राणायामों के वर्णन करते हैं।

सहज प्राणायाम : प्राणायामों में सहज प्राणायाम सभी लोग सभी अवस्था में कर सकते हैं। इस प्राणायाम में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। सहज माने आसानी से श्वास को धीमी गति से लम्बा करके छोड़ना और लेना होता है। जितने धीमि गति से लम्बा करके श्वास को छोड़ देंगे सो उतने ही शरीर में उष्णता बढ़ती है। श्वास को पूर्ण रूप में बाहर छोड़े जिसमें पेट पूर्णतया खाली हो जाये। अर्थात पेट में वायु या हवा न रहे। जब लेंगे तो उसी प्रकार ज्यादा से ज्यादा लम्बा करके धीमि गति से श्वास को भीतर लेना चाहिए जिससे हृदय उदर और नाभि आदि सर्वत्र ही वायु पूर्ण हो जावें। ज्यादा हठ् या जोर लगाना नहीं चाहिए। धीर स्थिर-शान्ति से यह प्राणायाम ज्यादा देर तक करने से कोई हानि या नुकसान नहीं है। सर्वदा लाभ ही होता है। रुग्न व्यक्ति भी साधारण

रूप से शान्ति के साथ प्राणायाम कर सकते हैं। कभी भी उतावला से प्राणायाम न करें। रक्तचाप हार्ट रोगियों तथा धातु के विकार डाईवेटिज, मन्दाग्नि आदि सभी प्रकार के रोगों में विशेष लाभदायक होता है। यह सहज प्राणायाम भ्रमण करते समय भी शान्ति से कर सकते हैं। प्राणायाम के समय में सभी को यह बात ध्यान रखना चाहिए कि हमारे शरीर के सभी प्रकार रोग-शोक सन्तापें-दुर्गुण आदि सब दूर हो जावें और जितने प्रकार के शुभ-गुण-कर्म स्वभावादि है सो हमारे अन्दर सब भरपूर हो जावें। क्योंकि प्राण वायु में ही सब कुछ प्रतिष्ठिा हैं। प्राणायाम करने के प्रारम्भ में निम्न मन्त्र का अर्थ सह जप और मननभाव से सभी प्रकार प्राणायाम करना चाहिए। मन्त्र यथा :—

प्राणायाम :

॥३॥ ॐ प्राणाय नमोयस्यं सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

अथर्व ११।४।१॥

प्रार्थना : —हे (सर्वस्य ईश्वरः) समग्र ब्रह्माण्ड पते प्रभो प्राणनाथ परमात्मन्! (य· भूतः) आप यह जड़-चेतन संसार के (सर्वं इदंम्वशे) सभी कुछ रक्षण वर्धन-निर्माण-धारण-पालन-पोषण करके वशिभूत कर रखे हो। (प्राणाय) प्राण के रक्षा के लिए (नमः) अन्न आदि प्राण रक्षक तथा बर्धक साधने दिए हो जिस अन्न द्वारा खाद्य से रस-रक्त-मांस-मेघ-अस्थि-मर्या और वीर्य तथा ओज शक्ति का संचार करते हो। (तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठतम्) उससे ही समस्त शरीर रूप ब्रह्माण्ड के अन्दर सभी कुछ रक्षण-बर्धन-निर्माण-धारण-पालन-पोषण होकर प्रतिष्ठित हो रहा है। वही शक्ति से हमारी दीर्घायु को प्राप्त करके (सर्वस्य ईश्वरः) रोग-शोक-सन्तापादि के नाशक सर्वत्र बसे हुए परमात्मा की कणों-

कणों में प्राण के सम अनुभव हो। ये ही हमारी भावनाएँ कामनाएँ पूर्ण हो।

ईश्वर प्राण के सम। प्राण से भी प्रिय हैं। क्योंकि यह समग्र ब्रह्माण्ड पिण्ड तैयार के लिये वायु चक्र से ऋतु आदि परिवर्तन होकर नये रूप सृष्टि-प्रलय आदि करते हैं। उसका नायक प्राणपते परमात्मा ही एकमात्र रचने वाला है। शरीर के प्राण वायु जिस प्रकार समस्त शरीर को रक्षण-बर्धन-निर्माणादि करते-करवाते हैं। उसी प्राण चक्र से ही हमारे शरीर के अन्दर रस रक्त-मांसादिका निर्माण होकर शरीर धर्म को चलाते हैं। अतः साधकों को चाहिए कि शरीर के कणों-कणों में परमात्मा बसा हुआ है। इस अवस्था में अनुभव करते समय श्वास को जब बाहर फेंक देवें तब निम्न मंत्रांश को अर्थ भावना से बोल या मनन करते ही श्वास को छोड़ते रहें।

॥४॥ ॥क॥ प्रार्थना—ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।

हे परम दयालु प्राणनाथ परमात्मन्! हमारे शरीर के अन्दर रहने वाले सभी प्रकार के अकल्याणयुक्त वायु-पित्त कफादि विकार दोष दूर हो जावें। और

॥ख॥ "यद् भद्रं तत् नः आसुव॥" यजु०—३०.३

जितने प्रकार के उत्तम गुण-कर्म-स्वभादि है सो हमारे अन्दर पूर्णतया आजावें अर्थात् कोई भी श्रेयता की अभाव न रहे।

अर्थात् हे प्राणपते परमात्मन! आपही हमें सर्वदा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त रूप भावना से प्राप्त हो।

प्रत्येक साधकों को प्राणायाम् करने के अवसर पर प्राणपते परमात्मा

को ही सर्वत्र सञ्चालक रूप में अनुभव करने से प्राणायाम में शीघ्र ही सर्वोत्तम फलप्रद होता है। बहुत ही शीघ्र आनन्द को प्राप्त होता है। यह प्रत्यक्ष शरीर सुख और मन-बुद्धि-आत्मबल प्राप्त होता है। अतः आगे के सभी प्राणायामादि इसी प्रकार भावना से करना चाहिए। धीर-स्थिर-शान्त-सुखासन-मेरुदन्ड सीधे-शुद्ध वायु ग्रहण तथा एकान्त स्थान के प्रति जहाँ तक अनुकुल हो सके सो उसके प्रति ध्यान रखना उत्तम होगा। अब हम भ्रमरी प्राणायाम का वर्णन करते हैं।

भ्रमरी प्राणायाम :—भ्रमरी प्राणायाम उसे कहते हैं कि—जिस प्रकार मधु मक्खी मिठे स्वर से गुञ्जता हुआ मधु रूप अमृत को चयन करता है, ठीक उसी प्रकार ही नासिका मूल से अर्थात् कण्ठ के थोड़ा सा ऊपर भाग में प्राण वायु को स्पर्श करता हुआ, श्वास को धीमी गति से शब्द करता हुआ छोड़ते रहना। उसमें एक सुन्दर तथा मीठे शब्द निकलता है। उसे ही भ्रमरी प्राणायाम कहते हैं। भ्रमर के सम जब श्वास को बाहर छोड़ते आरम्भ करेंगे तब "ओम्" का स्मरण करता हुआ दीर्घ श्वास के नाद से मिलान कर देवें। श्वास को पूर्ण मात्रा में छोड़ते समय साथ-साथ मूलबन्ध क्रिया को अवश्य करें।

मूल बन्ध क्रिया : उसे कहते हैं कि—शौच-पेशाव करने वाले के सामने से जन अचानक कोई गुजरता हो तब लज्जा के कारण तुरन्त उठ खड़ा हो जाता है। उस अवस्था में जिस प्रकार शौच-पेशाव मार्ग को तुरन्त संकोच और बन्ध करके उठ खड़ा हो पड़ता है सो वही रूप से शौच तथा पेशाब मार्ग को ऊपर की ओर खीचने को मूलबन्ध क्रिया कहलाता है। प्राणायाम में मूल बन्ध क्रिया एक महत्व पूर्ण विषय है। इसमें वीर्य की ऊर्ध्व गति जिसे ऊर्ध्वरेता कहते हैं। ऊर्ध्व गति में धारण

करने वाला वीर्य ही ओज शक्ति में बदलकर पराक्रम वीर-गम्भीर साहस-भावना की प्रबलता को प्राप्त होती है।

जब प्राण वायु को सम्पूर्णतया बाहर निकल-मूलन्ध के साथ नाभि को मेरुदण्ड में चिपका देना होता है। तब उसमें धारणीय शक्ति पैदा हो जाती है। सभी प्रकार के धातु विकारादि का महा औषध है मूल बन्ध क्रिया। उसके तुरन्त बाद ही श्वास को भीतर लेने के समय में कन्ठ के निम्न भाग और छाति के ऊपर भाग में श्वास को रूकावट पैदा करता हुआ भ्रमर के रूम नाद के साथ श्वास को पूर्ण रूप से भीतर की ओर लेना होता है। जब भ्रमरी प्राणायाम करते समय श्वास को भीतर लेते हैं तब वीर्य कोष के ऊपर कम्प होता है। उससे वीर्य कोष की, स्त्रियों में रैत कोष की शुद्धि होती हैं।

पुरुष-स्त्री लोग उभय अवश्य ही प्राणायाम करें। मूल बन्ध क्रिया को भी अवश्य ही करें। पहले कुछ दिनों तक कठिन अनुभव होता है। बाद में अभ्यस्त हो जाता है। तब अस्पष्टसा अनुभव नहीं होता।

भस्त्रिका :—भस्त्रिका प्राणायाम एक महत्वपूर्ण शीघ्र फलप्रद प्राणायाम है। इससे नाड़ी तुरन्त ही सुषुम्ना में प्राण के साथ कार्य उन्मुख हो जाता है। जिस प्रकार वायु-पित्त-कफ का विकार होता है और उसमें रोग भी हो जाता है ठीक उसी प्रकार ईढ़ा-पिंगला तथा सुषुम्ना नाड़ी के तीन भेद होते हैं। ईढ़ा में प्राण वायु अर्थात् दांया नासिका में चलने से मन उग्र-असन्तोष-अशान्त-चञ्चल-अन्य मनष्क भाव रहता है। जब प्राण वायु बांया नासिका पिंगला में रहता है तब तम गुण युक्त आलस्य प्रमाद निद्रा-स्थुल-स्वभाव-अकर्मण्यता भाव बना रहता है। जब प्राण वायु दांया तथा बांया में सम भाव रहता है अर्थात् दोनों नासा पुट में

से सम भाव से प्राण वायु चलता है तब उसे सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं। इस अवस्था में मनुष्य ही नहीं, प्राणीमात्रों को ही शान्त-पवित्र-निर्मल-उत्साह-आनन्द-प्रसन्न मुद्रा में दिखा जाता है। साधकों में तो कहना ही क्या उनमें तो सर्वदा अच्छे गुण-कर्म तथा स्वभावादि युक्त व्यवहार पाये ही जाते हैं। अतः स्थिर-धावनम्- धुकनी-प्राणायामादि में तुरन्त ही सुषुम्ना नाड़ी में प्राण आ जाता है। हमें और दूसरे प्रकार के कोई भी तरीका नहीं मिला है। यह हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है। इसे लिख कर ही नहीं समझा सकेगा। यह सिखने को ही होता है। तीसरे भस्त्रिका प्राणायाम में भी प्रायः सुषुम्ना में प्राण चलने लग जाता है। दौड़ लगाने और तैरने से भी सुषुम्ना में प्राण क्षणिक आ जाता है।

भस्त्रिका प्राणायाम करने के समय में धुकनी के सम श्वास क्रिया को बार बार बाहर फैकना और लेना होता है। नाभी केन्द्र को तथा पेट को मेरुदण्ड के साथ श्वास को फेकने के समय में मिला देना होता है। जितने हो सके घन-घन श्वास को बाहर फेंके तथा भीतर की ओर ले लेवें। अन्ततः लगातार ५०।७०।१०० बार तक बार-बार लगातार श्वास को छोड़ तथा लेना होता है। जब अनिच्छा होती है तब श्वास को पूर्ण मात्रा में पेट में भर के एकदम सम्पूर्ण श्वास को बाहर फेंक देवें। तुरन्त ही नाभी तथा पेट को मेरुदण्ड में चिपका, मूल बन्ध और दांत के साथ दांतों का दबाव लगाकर, दोनों हाथ के टेकनी गोठनी के साथ भर या दबाव रख कर, श्वास को यथेच्छा दीर्घ समय तक बन्ध कर रखना चाहिए। इसी प्रकार पुन २/४ बार अवश्य ही करें। उसमें पेट के चर्बी करता है। वायु एवं कफ विकार नष्ट होता है। तीनों गुणों के साम्यावस्था प्राप्त करता है। श्वास क्रिया स्वच्छ तथा सुन्दर होता है। कण्ठ परिष्कार होता है। शरीर में गरमी पैदा होती है। उत्तेजनात्मक

विकार नष्ट होता है। इस प्रकार लगातार २।४ बार विधिवत् प्राणायाम करके कुछ समय तक सहज प्राणायाम करना अच्छा है।

बाह्य प्राणायाम :—बाह्य कुम्भक भस्त्रिका प्राणायाम के सम एक बार में ही श्वास को सम्पूर्ण रूप से बाहर फेंक देना होता है। पेट को पीछे चिपका मूल बन्ध किया, दांतों में दांतों के दवाब, सीधे मेरुदण्ड, सरल ग्रीभा, रख कर, हाथों को गुठनी के ऊपर दवाब रख कर दीर्घ समय तक सामर्थ अनुकूल श्वास को रुके साथ साथ ॐ का जप करते रहें। जब और रुक न सके तब धीमे से श्वास को पूर्णमात्रा में पेट तथा छाती में भरते ही दोबारा बाहर फेंक कर पूर्ववत रुके। ध्यान रहें कि भीतर को श्वास लेकर कभी न रुके। कम से कम ३ बार लगातार बाहर ही रुके रखे। इसे बाह्य कुम्भक कहते हैं। पहले यह अभ्यास बढ़ाना चाहिए। अन्ततः २।३ महीनां तक अभ्यास करें। इसके बाद ही आभ्यन्तर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

आभ्यन्तर प्राणायाम :—आभ्यन्तर प्राणायाम उसे कहते हैं जिस प्रकार बाह्य प्राणायाम में श्वास को बाहर फेंक कर रोका था ठीक उस प्रकार ही पहले बाहर ३ बार रुक कर भीतर भी रुकने का अभ्यास करना। पहले बाहर रुकने के बाद अब पूर्ण मात्रा में श्वास को भीतर में ले लेवें। अब श्वास को पेट में पूर्ण मात्रा तक भर कर ईष्ट मन्त्र का जप सह मन्त्रार्थ के साथ यहां तक शक्ति है सो वहां तक रुक कर बैठना होता है। अभ्यास काल के प्रारम्भ में गिनति को करने से या घड़ी देख कर अथवा घड़ी के टिक-टिक शब्द को गिनकर प्राणायाम के चाल को बढ़ाना अच्छा होता है। पहले बार बाहर जितने सेकेण्ड रुका था सो दूसरे बार भी उतना रुकना अच्छा होता है। इस प्रकार तीसरे चौथे आदि सभी पुनरावृत्ति में एक ही प्रकार चाल अच्छा रहता है।

इस प्रकार जब आभ्यन्तर प्राणायाम करना है तब लगातार ही बाह्य प्राणायाम के सम आभ्यन्तर प्राणायाम न करें। पहले बाह्य प्राणायाम लगातार तीन बार करें। चौथे बार श्वास को बाहर फेंक कर बाह्य प्राणायाम करने के उपरान्त ही भीतर लेकर आभ्यान्तर प्राणायाम अर्थात् भीतर श्वास को लेकर यथा साध्य रुकें। जब और रुक न सकें तब बाहर फेंक कर बाह्य प्राणायाम करें। अर्थात् बाहर ही रुकें। जब बाहर का हो जाता हैं तब भीतर लेकर रुकें। अब आभ्यन्तर अर्थात् भीतरे में जब तीन बार रुकना हो गया तो बाहर का ७ बार रुकना हो जाता है। इसे भी २।३ महीना अभ्यास करना चाहिए। अब तीसरे प्राणायाम उभयाक्षेपी कहते हैं। पहले बाह्य प्राणायाम में मन-बुद्धि-इन्द्रियादि के निर्मल भाव शुरू हो जाती हैं। आभ्यन्तर प्राणायाम में शरीर हलका हो जाता है। मोटापा दूर होने लग जाती है। मन-बुद्धि के अन्दर शान्त-पवित्र-निर्मल भाव के स्थायित्वता प्रदर्शन होने लग जाती है। तभी जाकर उभयाक्षेपी प्राणायाम कर सकेंगे।

उभयाक्षेपी प्राणायाम : —बाह्य तथा आभ्यन्तर प्राणायाम करने के बाद जब साधक को धीर-स्थिर-शान्त-गम्भीर-पवित्र-निर्मल भाव हृदय होने लग जाते हैं तब मनका अवस्था प्राण से उपराम होने लग जाती है। बाह्य और आभ्यन्तर प्राणायाम में प्राण के पीछे मन लगा रहता है। प्राण के बेचैनपना से मन भी बेचैन रहता है। मन-बुद्धि-इन्द्रियादि के चाञ्चल्यता और बेचैनपना रहने से उभयाक्षेपी प्राणायाम बिल-कुल कर नहीं सकता। साधकों में ये शक्ति नहीं है तो योगी के नाम से ढोंगी सिद्ध होगा। अतः धीर-स्थिर-शान्त-पवित्र-निर्मल-बुद्धि के तीव्रता-कर्म कुशलता-बीर्यवान-ओजस्वी-तेजस्वी स्वभाव वाले साधक ही उभया-क्षेपी तथा स्तम्भ-वृत्ति प्राणायाम कर सकेंगे।

उभयाक्षेपी उसे कहते हैं जब बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्राणायाम करने के बाद प्राण वायु शिथील हो जाती है तब मन की भी चंचलता दूर होती है। श्वाँस को पहले बाहर फेंकने के बाद बहुत देर तक साँस रूका रहता है। कुछ इच्छा हो तो श्वाँस को सामान्यतया बाहर से भीतर लेने के बजाय बाहर ही फेंकते हैं। संयमी मन तथा प्राण बेचैन नहीं होता। श्वाँस को कुछ लेकर पुनः रोक दिया। उसके बाद पूर्ण मात्रा में पुनः ले लिया औररूक कर पूर्ण मात्रा में फेंक कर रोक दिया। इस प्रकार जहाँ तहाँ-कहीं ना कहीं रोक दिया तथा चल पड़ा। कभी-कभी मन प्राण के क्रिया को छोड़ दिया। कभी लेकर चल पड़ा। यह स्वरूप उभयां-क्षेपी प्राणायाम की होती है। साधकों में जब उभयाक्षेपी प्राणायाम इस प्रकार सिद्ध हो जाती है तब चौथी अवस्था स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम की आती है।

स्तम्भ वृत्ति—स्तम्भ बृत्ति उसे कहते हैं कि जब साधकों में अतीव उच्चस्तरीय स्थिति का पता लगा है, तब यह भौतिक शरीर का बोध-ज्ञान, माया, ममता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, शंका, लज्जा, भय, शोक आदि से परे हो जाता है। स्तम्भ अर्थ पत्थर सम है। उसके अन्दर किसी का भी प्रभाव नहीं रहता। स्तम्भ वृत्ति में प्राण के पीछे मन-बुद्धि नहीं रहती। उसका मन खोज में रहता है जिसने संसार को बनाया है। साधक की वृत्ति जब चौथे स्थान में पहुँचती है तब कैवल्य भाव रहता है। प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रियादिओं के एक ही श्रोत में महासमुद्र रूप ब्रह्म ज्ञान में तल्लीन हो जाता है। तब घन्टों-घन्टों, दिनों-रातों कई-कई दिनों तक प्राण क्रिया का भी पता नहीं रहता। वह विशेष स्थिति का वर्णन है जो कि जड़ स्तम्भ के सम बाहर-भीतर के कोई जड़

जगत के प्रभावों से प्रभावित न होने को स्तम्भ वृत्ति कहा जाता है। जब साधक ईश्वरीय साधना से एक ही भाव हो जाता है जो कि वेद में कहते हैं कि "ब्रह्ममहमन्तरं कृन्वे" अर्थात् साधक केवल बीच में ब्रह्म को ही सर्वत्र रखते हैं। रोगी, भोगी, अपूर्ण योगी भौतिक दुनिया को बीच में रखकर कार्य, साधना, उपासना आदि कर्म करते हैं। पूर्ण योगी ही सर्वदा ब्रह्म को ही सामने रखते हैं। साधक और ब्रह्म के बीच कुछ भी नहीं रहता। वही चतुर्थ अवस्था स्तम्भ वृत्ति के साथ कैवल्य की सम भाव हो जाती है। उसे ही मोक्ष कहते हैं।

अब मुक्ति के लिए साधक किस ढंग से स्वगत प्रार्थना से ईश्वर को प्राप्त करेगा उसके उपाय के लिए तथा अपना दोष या त्रुटियों को निवारण के लिए भक्त के मन की भावनाओं के प्रकट करते हैं यथा :

५। ओ३म् पृच्छे तदेनो वरुणो दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयंह तुभ्यं वरूणो हृणीते॥

॥ ऋ० ७/८६/३॥

प्रार्थना—हे वरूण परम पिता परम दयालु देव भगवन् :—मैं आपका भक्त हूँ। (दिदृक्षु) आपके ही दर्शन का अभिलाषी हूँ। परन्तु निरन्तर आपसे दूर ही रह जाता हूँ। (तद् एनः) क्यों कि हमने न जाने जन्म-जन्मान्तरों में कितने पापादि कर्म किया हैं सो उसकी कोई सीमा नहीं है। वही पापादि दुःख कष्ट दायक फलों के बारे में मैं बार-बार (पृच्छे) आपसे पूछता रहता हूँ कि हे प्रभो ! आप मुझसे दूर क्यों रहते हों ! मैं तो सर्वदा (उप एमि) आपके ही सन्मुख उपस्थित होना चाहता हूँ। जब मैं आपको पाने के लिए तड़पता हुआ (चिकितुषो) विद्वान ऋषि महर्षि, सन्त-महात्मा साधकों के पाछ-पूछता रहता हूँ

कि कैसे ईश्वर को पा सकूँ। उत्तर में सभी (कव्यश्चित् आहु) क्रान्त दर्शी विद्वान साधक लोकादि (समानम् ईत् मे) एक ही प्रकार के बात निश्चय से कहते हैं कि (वरूणो हृणिते) अरे वरूण परमात्मा ने तेरा तो सभी कुछ हरण किया है! जब तक तेरा पाप खण्डन नहीं होगा तब तक ईश्वर को पा नहीं सकता। इसलिए आप हमें कृपया बता दो जिसमें आपको पा सकूँ।

प्रश्न—वेदाश्रयी जी महाराज! आपने वेद मन्त्रों द्वारा मनसा परिक्रमा के मन्त्रों को सन्ध्यो-पासना में क्यों नहीं रखा?

उत्तर—मन तो सर्वदा ही पार्थिव दुनिया के अन्दर परिक्रमा कर ही रहा है। उसे ज्ञान-विज्ञान के द्वारा सृष्टि तत्व का मनन करना अच्छा है। वह सर्वदा ही पृथक समय में विचारज्ञान कर सकता है सन्ध्योपासना में नहीं। ईश्वर उपासना का अभिप्राय एकाग्र चित्त में ईश्वर से मिलना है। योग दर्शन में भी कहते कि "तत्र प्रत्येकैकतानताध्यानम्" ईश्वर के एक ही श्रेष्ठ नाम में निरन्तर एकतानता को हीध्यान कहते हैं। "तज्जप-स्तदर्थ भावनम्" जिनको पाने के लिए जप करें उन्हीं के ही अर्थ भावना को भी करना चाहिए। "तस्य वाचकः प्रणवः" इष्ट देवता के वाचक ही केवल 'प्रणव' नाम ओम् हैं। अब ओम् परमात्मा के उपलब्ध को लेकर ही प्रभु से मिलना ही योग है। उसमें 'मनसा-परिक्रमा' तथा 'अघमर्षण' मन्त्र जप करने से ही यदि सन्ध्योपासना होगी यह करना कोई निग्रह वाक्य से नहीं समझना चाहिए। अतः हमें ये ही अच्छा अनुभव है कि—ईश्वर को पाने के लिए स्वगत प्रार्थना अर्थात् अपने श्रद्धा भक्ति की ताना-वाना को केवल एक ही ईश्वर प्राप्ति के उपलक्ष में ही होना चाहिए। उस प्रसग के अनुकूल श्रद्धा, भक्ति प्रेम, विनय तथा करूणा सम्पन्न भाव धारा की स्रोत जिसमें एक ही ईश्वर के तरफ झुमने

लग जावें। जिस प्रकार निम्न मन्त्र में भक्त अपने स्वरूप का पता लगाने के लिए ईश्वर से पूछ रहा है कि भगवान् हमारी क्या-क्या बड़ी-बड़ी बाधायें हैं! जिसके कारण आप हमसे दूर रहते हो?

६। ॐ किमाग आस वरूण ज्येष्ठं यतस्तोतारं जिघांससिसखायम्।
प्रतन्मेवोचो दूढ़भ स्वधावो अवत्वानेना नमसा तुरइयाम्॥
॥ ऋ० ७/८६/४॥

प्रार्थना—हे जगत् स्वामी वरूण परमात्मन्! आप ही को मैं वरण करना निश्चय किया है। मैं (यत स्तोतारम्) आप ही की स्तुति प्रार्थना, उपासना करने वाला जो भक्त हूँ सो आपसे (जिघां-ससि) बार-बार पूछ रहा हूँ कि आप हमसे (किम आग आस) दूर रहने का कौन सा पापानल दुःखाग्नि का कारण रहा है। आप हमसे क्यों नाराज हो? ये ही कारण आपके (सखायम्) प्रिय भक्त (प्रतम्ने वोचो) मुझे अच्छी प्रकार बताइये। आपके द्वारा ही हमें (स्वधावः अव तु अनेन) अन्नादि से तथा सभी प्रकार के साधनों से निरन्तर ही रक्षा, वर्धन, निर्माण, धारण, पालन पोषण हो रहा है। इसलिए ही (नमसा) बड़े ही विनम्रता से (तुरइयाम्) मुक्तानन्द को ही प्रांप्त करना चाहता हूँ। अतः हे वरूण परमपते परमात्मन्! आप हम पर कृपा दृष्टि वर्षन करो—

अब निम्न मन्त्र में भक्त की पुकार है कि अपने बन्धन से मुक्त होने के लिए प्रभु से कौन सा उपाय निकल सकें। मन्त्र यथा—

७। ॐ अपो सुम्यक्ष वरूणभियासम् मत्सम्राट ऋतावो अनुमागृभाय
दामेव वत्साद्विमुमुग्ध्यंहो नहित्वादारे निमिषश्चनेशे॥
॥ ऋ० २/२८/५॥

प्रार्थना—हे ज्ञानामृत वर्षण करने वाले वरूण परम पिता परमेश्वर!

आपके ही हम इस दुर्लभ मानव चोले को लेकर (मत्सम्राट) हमारे राजा के सम आपको ही प्राप्त करना चाहते हैं। जिस प्रकार उपयुक्त राजा होने से प्रजा को कोई भय या समस्या नहीं रहती, उसी प्रकार ही हमारे (भियसं अपो , सभी प्रकार के भय को दूर कर दो। जिस प्रकार (दामेव) रस्सी से बन्धे हुए गौ के बछेड़ा (विमुमुग्ध्यंहो) विशेष प्रकार से छुटकारा होकर (निमिषर्श्चं नेशे) एक मुहुर्त के अन्दर ही (त्वाद्वारे) उसके माँ के पास पहुँच जाता है और (ऋतावो) दुग्धामृत को पान करता है उस प्रकार ही हम आपके भक्त (सुम्याक्ष) अच्छे प्रकार बन्धन दशा में फँसेहैं। अब आपकी कृपा से सभी प्रकार की शंका-भय तथा बाधा-विघ्न आदि। (अनु मागृभाय) हमारे पीछे बिलकुल लगे न रहें, अर्थात् निर्भय होकर आपके सुरक्षा से मातृ स्नेहवत अनन्त ज्ञानामृत मुक्ता नन्द को प्राप्त हों। उसमें किसी भी प्रकार के बन्धन न रहें।

अब निम्न मन्त्र में साधकों के तीव्र वैराग्यता की पता चलती है। यह पञ्च भौतिक मानव चोले को पाकर बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं क्योंकि यह शरीर ही काम-क्रोध-लोभ मोह-ईर्ष्या द्वेष, लज्जा, शंका भय, अज्ञानता आदि के नाना प्रकार बन्धन हैं। इस लिए यह शरीर ही जन्म-जन्मान्तरीय माया जाल दुःख का चक्र है। यह शरीर ही पञ्च भौतिक पदार्थ युक्त मिट्टी का घर होने से इसके प्रति और विशेष मोह नहीं है। यही भाव प्रदर्शन प्रकट करता हुआ भक्त की पुकार है। मन्त्र यथा—

८। ओ३म् मोषु वरूण मृन्मयं गृहं राजन्नहंगमम्।
मृडासुक्षत्र मृडय॥ ऋ० ७/८९/८९ १

प्रार्थना—हे सर्वधारक वरूण परम कृपानिधे भगवान! अब हम इस (मृन्मयंगृहम्) पंच भौतिक पदार्थों से बनाया हुआ इस मिट्टी के नाशवान बन्धन युक्त घर में नहीं रहना चाहता। (मा उपु) आपके ज्ञानामृत मुक्ति के सामने यह भोग शरीर की अधिक वासना नहीं है। अब हमारे सामने आपके भिन्न दूसरे की समानता नहीं रही। अतः (राजन् अहं गमम्) हे राजाधिराजेश्वर वरूण परमात्मन्! मैं केवल आपको चाहता हूँ। आपही केवल मेरे ज्ञान गमन प्राप्ति का साधन हो। हे प्रभो! मृडा) आपही मुझे सुखी करो। (सुक्षत्र) आपकी कृपा से ही मुझे उत्तम मन, बुद्धि, इन्द्रिय युक्त श्रेष्ठ बना दो। कहीं पर भी आपकी कृपा दृष्टि का आभाव नहीं रहे यही आपके भक्त की अभिलाशा है। आप हमारे आशा पथ की प्राप्ति मात्र होकर पूर्ण रहो। प्रभो! आप हमें शुद्ध रूप से प्राप्त हों।

अब भक्त को प्रकृति के भोग युक्त माया शरीर से किस प्रकार छुटकारा पाना है उसे वेद भगवान निम्नमंत्र से उपदेश करते हैं—

६ ॥ ओ३म् त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिंपुष्टि वर्धनम्।
उर्वारूकमिक बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ ॥यजु० ३/६०॥

अर्थः हे मेरे प्राणनाथ परमात्मन्! आप हमारे (त्र्यम्बकं) त्रिनाथरूप (अ+उ+म्) ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर रुप में हो। आपको ही हम सत्व+रज+तम गुणत्रय बन्धन युक्त शरीर में रहकर (यजामहे) निरन्तर उत्तम गुण कर्म,स्वभाव, यम, नियमादि अष्टा योग से आपको ही यज्ञरुप से भजन करतेहैं। हमारे शरीर यज्ञसे इस प्रकार पुष्ट बर्धन हो जिस प्रकार (ऊर्वारूकम इव बन्धनात्) अपरिपक्व खरबूज अपने रक्षक, बर्धक, निर्माण, पालन, पोषण करने वाला बेली, खरबूजे की

सुरक्षा करती है। जब खरबूज बेल से रस लेकर पुष्ट होता है तब उसने सुगन्ध से सारी दुनिया को तृप्त करता है। उसी प्रकार ही इस संसार (बन्धनात्) भव बन्धन जाल से और (मृत्योः) जन्म, मृत्यु, ज्वरा, व्याधियुक्त जाल से (मुक्षीय) हमें मुक्ति को प्राप्त करा दो। (मामृ) हे प्रभो! आप हमें (अमृतात्) अमृत की ओर ले चलो। आप ही केवल हमें ज्ञानामृत सुगन्ध रूप अमृत तत्वमय बना दो।

भक्त जब तक संसार रूप लतिका से पुष्ट होकरसुगन्ध मय नहीं होता तब तक कैसे रहें?

इसलिए भगवती परमेश्वरी गायत्री माता महा गुरू वेद माता सावित्री मन्त्र को ध्यान करना हैं। गान कारी को त्राण करने वाला ही गायत्री है। गायत्री से ही मुक्ति होती है। इसलिए बड़े श्रद्धा, भक्ति, प्रेम से यथेच्छा जप करें।

१०। ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्, भर्गो देवस्य धीमहि, धियो योनः प्रचोदयात्॥ यजु० ३६/३॥

अर्थ—हे समग्र संसार के मालीक परम दयालु देव महान गुरू परम पिता परमात्मन्! इस ब्रह्माण्ड को (सवितुः) आप ही उत्पन्न करने वाले हो। आप समग्र संसार के "भूः" प्राण स्वरूप हो। प्राण से भीप्यारे हो। (भुवः) सभी प्रकार के दुःख-कष्टों को मिटाने वाले हों। (स्वः) आप ही हमारे सुख-शान्ति आनन्द दायक हो। (वरेण्यम्) इसलिए आपको ही हम सभी लोग वरणकराने योग्य मानते हैं। अतः हे एक मात्र वरणीय प्रभो परमात्मन् आप हमारे (भर्गो) पाप विनाषक तेज आदि शक्ति सम्पन्न हों। (धिमहि) आपको ही हम धारण करते हैं। (धियः) जिस धारणा बती बुद्धि (यः) और जो भी श्रेष्ठ गुण कर्म

स्वभाव है सो (नः) वह हमारे लिए (प्रचोदयात्) प्रेरणा की श्रोत बहता रहें। निरन्तर ही आपकी प्रेरणा से हम आगे की तरफ चलते रहें।

अब यथेच्छा गायत्री माता की स्तुति प्रार्थना उपासना करके सार्वभौम बल-मेधा, वुद्धि-शक्ति आदि के प्राप्ति की कामना करके संसार में रहना है। कब तक रहना है ? जब तक मुक्ति को नहीं पाता। अर्थात् भक्त जब तक ईश्वर के परम आनन्द स्वरूप मुक्तिको नहीं पाता तब तक भक्त इस भौतिक संसार में किस प्रकार दीर्घ दिनों तक जीवित रहें उसके लिए अथर्व वेद का उपदेश है कि—

११। ओ३म् पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्। बुध्येम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्। पूषेम् शरदः शतम्। भवेम शरदः शतम्। भूयेम शरदः शतम्। भूयसीः शरदः शतात् ॥

अथ० १९/६७/१-८॥

अर्थ—हे परम दयालुदेव परमात्मन्! हम आपके इस संसार में दीर्घकाल तक उस प्रकार जीवित रहें जिससे शत-शत वर्षों तक बड़े आनन्द के साथ अक्षण्ण रूप से दिखते ज्ञान को बढ़ाते-निरन्तर उन्नति के पथ पर बड़ते-परिपक्व होतें सामर्थ्य को बढ़ाते, नित्य स्थिति सत्यावान होतें, बहुत अधिक से भी अधिक समय काल युगों, शत सहस्त्र वर्षों तक जीवित रहें। हमें कोई भी दुःख कष्ट सन्तापादि ना रहे।

अब हमें शत-सहस्त्र वर्षों तक जीवित रहते हुए किस प्रकार की भावना से जीवित रहें उसके लिए वेद भगवान उपदेश करते हैं कि सभी एक दूसरे के साथ विनम्र भाव से रहें। विनम्रता ही महान गुण। अभिमान, अहंकार, वीरता, कर्म, क्षमता आदि सभी कुछ एक दिन

मिट्टी में मिल जायेगा। इसलिये प्रभु के पास समर्पण करने के लिए वेद भगवान का उपदेश है मन्त्र यथा—

१२। ओ३म् नमः शम्भवायच मयोभवायच नमः शंकरायच मयस्करायच नमः शिवाय च शिव तरायच॥ यजु·१६/४१॥

अर्थ हे कल्याण मय प्रभो! हम सभी आपसे (शम्–भव+अय+च) कल्याण को पाने के लिए सदा विनम्रता से नमन करते हैं। (मयोभवायच) सदा सुख-शान्ति आनन्द मय रहने के लिए विनय सम्पन्न रहते हैं। (शंकरायच) कल्याण मय होने के लिये आपकी विनय करते हैं। (मयस्करायच) अनन्त ज्योतियों से भी ज्योतिर्मयता के लिए नमस्कार करते हैं। (नमः शिवाय शिवतरायच) सर्व मंगलेश्वर मंगलमय होने के लिएसदा नमन करता हुआ रहना चाहते हैं।

अब आनन्द मुक्ति कामेच्छ भक्त सांसारिक तथा भौतिक शरीर धारी बनकर सुख से दीर्घायु तक रहता हुआ। विनम्रता से शान्ति को चाहते हैं। शान्ति ही शान्ति के लिए वेद भगवान का उपदेश हैं। मन्त्र यथा—

१३। ओ३म् पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः, द्यौः शान्ति, शापः शान्तिः, ओषधय शान्तिः, वनस्पतयः शान्तिः, विश्वे मे देवाः शान्तिः, सर्वे मे देवाः शांतिः, शांतिः शान्ति शान्तिभिः, ताभिः शान्तिभिः, सर्व शान्तिभिः, शमयामोऽहम्। यदिह घोरं, यदिह क्रूरं यदिह पापं, तत् शान्तं, तत् शिवं, सर्वमेव शमस्तुनः॥

॥अथर्व० १६/६/१४॥

अर्थ—हे सर्व शान्तिकेश्वर भगवन्! आपके इस अनन्त

ब्रह्माण्ड के अन्दर पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, जल, ओषधि, वनस्पति, वृक्ष दिव्यआत्मा-दिव्य पदार्थ आदि सभी कुछ हमारे लिए सर्वदा ही शान्ति दायक हों। शान्ति से भी शान्ति-महाशान्ति को हम पाकर इह-लोक और परलोक के जितने प्रकार पापकुण्ड घोर नरक नारकीय जो कर्मफल निष्ठुर कर्म और पापादि निन्दनीय कर्म हैं वो सभी कुछ दुःख दायक कर्मफल शान्तिमय हो जावें। अर्थात् हम शान्ति ही शातिमय रहें। हे प्रभो! येही मात्र आपसे विनती हैं। हमारी प्रार्थना आप स्वीकार करो प्रभो! स्वीकार करो।

अब सम्मिलित शान्ति पाठ के पश्चात् सभासदों को सार्वजनिक "नमस्ते" बोलकर के गुरूजनों के चरण स्पर्श श्रद्धा, भक्ति, विनय पूर्वक सभी से आशिर्वाद लेवें। प्रतिदिन सम्मिलित सन्ध्या-उपासना आदि से निवृत्त होने के साथ-साथ अपने-अपने परस्पर वैरता, कठोरता, अभिमान, निष्ठुरता, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, शंका, भय, अज्ञानता रूपी मैल या कुड़ा-कचड़ा भी मन के कोने-कोनों से झाड़ु लगाकर सफाई करके फेंक देवें। इससे हृदय मन्दिर साफ हो जायेगा। शुद्ध, पवित्र, वस्त्र वासगृह, आहार्य आदि होने से उसके संग से ही प्रसन्नता होती है। गन्दगी से जिन्दगी ही बिगड़ी हुयी रहती है। इसलिए ईश्वर उपासना के लिए त्रयोदश अन्तकरण की शुद्धि के लिए प्रातः और सायं-सन्ध्या उपासना नित्य-नैमित्यिक कर्म अवश्य करतें रहें।

१२। द्वादश दर्पणः (विद्यालय की सम्मिलित प्रार्थना)

जब विद्यायल की पढ़ाई हो, सम्मिलित श्रेष्ठ कार्यानुष्ठान हों तब निम्न मन्त्र सभी बोल कर ही शुभ कार्य प्रारम्भ करें।

१ । ओ३म् ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणिविभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बलातेषां तन्नोऽद्य दधातु मे ॥ अथ० १/१/१ ॥

२ । ओ३म् पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोस्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ अ० १/१/२ ॥

३ । ओ३म् यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरू स्वाहा ॥ यजु० ३२/१४ ॥

४ । ओ३म् मेधां मे वरूणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्र श्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥
॥ यजु० ३२/१५ ॥

भावार्थ—(१) हे परमात्मन् ! आप हमारे वाणीपति हो आपने यह संसार तिन गुणा ७ = २१ पदार्थों से बनाया है। उनमें सर्व-श्रेष्ठ विद्यारूप वाणी है। आज ही इस मुहुर्त में ही हमें श्रेष्ठ वाणी मस्तिष्क में प्रतिष्ठित होकर आनन्द की श्रोत बहती रहें।

(२) हे वाचस्पति परमेश्वर ! आपकी ज्ञान वाणी बार-बार अर्थात् निरन्तर ही हमें मिलती रहे। श्रवण, पठन, मनन युक्त मेरी विद्या को पहले मेरे लिए ही लाभप्रद हो। निरन्तर आन्नद बनी रहें।

(३) हे वाचस्पति भगवन् ! जिस विद्या, मेधा, बुद्धि से संसार में दिव्य आत्माए हुई हैं सो वहीं विद्या मेरे लिए भी होवें।

(४) हे यज्ञेश्वर भगवन् ! संसार में वरूण देव, अग्नि देव, प्रजा-पति, इन्द्र, वायु आदि सभी देवताये जो शक्ति धारण किये हैं वह मेधा शक्ति सभी से हमें निरन्तर ही प्राप्त हो। यही हमारी बार-बार प्रार्थना है। हमारी प्रार्थना आप स्वीकार करो प्रभो ! — स्वीकार करो।

१३ । त्रयोदश दर्पणः । (सभा समिति में सम्मिलित प्रार्थन)

सभा तथा समिति और संगठन आदि स्थानों पर संगठन सुक्त का पाठ करें। योग, तप, साधना, विद्यादि ऐश्वर्य व्यक्तिगत सम्पदा है। व्यक्तिगत साधना से ही परिपक्वता आती है परन्तु सभा, समिति संगठन आदि व्यक्ति नहीं होता। समष्टि चाहिए। तभी जाकर परिपक्वता होती है। इसलिए सभा आदि के प्रार्थना पृथक रखा है।

१ । ओ३म् सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इष्ठस्पदे समिध्यसे सनो वसून्याभर ॥

२ । ओ३म् सं गच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते ॥

३ । ओ३म् समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेनंवोहविषा जुहोमि ॥

४ । ओ३म् समानो व आकूती समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथावः सु सहासति ॥

ऋ० १०/१९१/१-४

भावार्थ—(१) हे सर्व सुख वर्षक प्रभो परमात्मन् –आप हमें वाणी, सुख, सम्पदा, विद्या, बुद्धि, ज्ञान आदि ऐश्वर्यों के वर्षण करो।

(२) हमारी सभी गति विधि एक संग, एक मन, एक प्रकार ज्ञान भाव के उदय हो।

(३) हमारी विचार धारा एक हो। सभा में सभी के एक ही प्रकार मति-गति रहें। हमारा विचार-विमर्ष, चेष्टायें, त्याग इत्यादि एक मत वाला हो।

(४) हमारी प्रचेष्टायें, हृदय भाव, सन्मना, सुसम्पन्न मति वाला बनकर श्रेष्ठ कार्य चलाते रहे। हे परमात्मन्! हमारी कामना, भावना, गतिविधि कभी विच्छिन्नता में न आवे।

१४। चतुर्दश दर्पणः। (भ्रमण या यात्रा काल के मन्त्र)

जब आपको कहीं पर भ्रमण या यात्रा करना हो तो निम्न मन्त्रार्थ मनन के साथ उच्चारण करते हुए चलें।

१। ओ३म् पूर्वांपरं चरतो माययैतौ शिशूक्रीडन्तौ परियातोऽर्णवम्।
विश्वान्योभुवनाविचष्ट ऋतूरन्यो विदधत् जायसे नवः॥

२। ओ३म् नवो नवो भवसि जायमानो अन्हां केतुरूषसामेष्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो विदधास्यायन् प्रचन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः॥

॥ अथर्व० ७/८१/१, २॥

भावार्थ—(१) हे सूर्य रूप परमात्मन् –आप हमें सूर्य के समान इस गतिविधि में निरन्तर आगे की ओर बढ़ाओ। जिस प्रकार सूर्य पूर्व से आगे बड़ता चला जाता है। बच्चा उछल कुद करता हुआ भागता रहता है। ऋतुऐ जिस प्रकार प्रकृति के अन्दर नवीनता को प्राप्त करती है ठीक उस प्रकार ही हम आपके ऐश्वर्यों के साथ निरन्तर ही बढ़ते रहे।

(२) मैं आपकी कृपा से चन्द्रमा के समान सुख, शान्ति तथा नाना प्रकार के ऐश्वर्यों के साथ नित्य नये-नये रूप में झण्डा के सम दोलायमान होकर बढ़ता रहूं। कभी भी बाधा-विघ्नों से न घबड़ाऊँ।

१५। पञ्चदश दर्पणः। (दोकानादि खोलने का मन्त्र)

१। ओ३म् इन्द्रमहं वणिजं नोदयामि स न ऐतु पुरएंता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्॥

२ । ओ३म् येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोग्ने सातघ्नी देवान् हविषा निषेध ।
॥ अथर्व० ३/१५/ १, ५ ॥

भावार्थ—(१) हे धनैश्वर्यों के मालीक परमात्मन् !--मैं व्यावसाय की निरन्तर वृद्धि करने वाला धनी व्यपारी बनना चाहता हूँ । आपकी प्रेरणा रूप कृपा दृष्टि मेरे प्रति बनी रहे । हिंसक, क्रुर स्वभाव चोर, गुण्डे आदि हमारे पास कभी न आवें हम सर्वदा । दान-पूण्यादि कर्म करते हुए प्रसन्नता से निरन्त बढ़ते रहें ।

(२) हे परमात्मन् हमारे कारोबार में इतना लाभ हो जिससे अधिक से अधिक यहाँ तक की रुपये से रुपये का लाभ हो । इसमें कोई बाधा डालने वाले न हों ।

१६ । षोडश दर्पणः । (अन्न ग्रहण)

दुनिया में यह एक साधारण व्यवहार है कि कभी किसी का कोई सामान लेने के लिए मालीक से अनुमति और व्यवहार से खुश करने से ही प्यार के साथ सौहृदयता को प्राप्त होती है । अनुमति मिले हुए साधनों के प्रयोग में आत्मिक बल, साहस, उत्साह, शुभेच्छा, सौख्यता, कृतज्ञता बनी रहती है । बिना अनुमति के प्रयोग से दुर्बलता, हीन-दृष्टि, शत्रुता, विद्वेष, आलस्य, प्रमादादि तम गुण और रजगुण में बार-बार फेरे काटता है । उनमें स्वात्विकता आती ही नहीं । उसी प्रकार ही समग्र ब्रह्माण्ड का मालीक ईश्वर है । उन्हीं की रचायी हुयी सारी दुनिया है । ईश्वर के बिना पत्ता तक नहीं हिलता । हमारी एक धुल कण या रेत का कणपैदा करने की ताकत नहीं है । अतः जिन्होंने सूर्य,

चन्द्र, नक्षत्र, भू-मण्डल, जल, वायु, अग्नि, आकाशादि का निर्माण किया। उससे ही अन्न, जल, फल, मूल, कन्द, ओषधि, वनस्पति आदि निर्माण हुआ। सभी कुछ जब ईश्वर का ही है तब हम अपने शरीर की सुरक्षा के लिए प्रत्येक अवस्था में प्रभु को या मालिक को स्मरण कर अर्थात् बताकर ही प्रयोग करना चाहिए। यह व्यवहार मानव जीवन का महत्वपूर्ण अध्याय है। इसे अध्ययन-मनन करना चाहिए। इससे अपना अभिमान चूर्ण होता है। अपना कुछ भी नहीं है। सबके सुरक्षक दाता मालिक परमात्मा वहीं हैं। इस प्रकार सभी को जानना चाहिए। जब शरीर रक्षा के लिए अन्न आदि का प्रयोग करे तो मन्त्रार्थ भावना से ही अन्न को ग्रहण करें। अन्यथा चौर्यवृत्ति उत्पन्न होती है। छुपाने या छीपाने की वृत्ति निरन्त बढ़ती रहती है। भोजन सर्वदा एकाग्र, शान्त, पवित्र, निर्मल, हितचिन्तक होकर खाना चहिए। रोग, द्वेष, असन्तोष और कू भावना से भोजन करने से दुर्बलता, कमजोरी, रुग्न, अपरिपक्व दोष पैदाहोते हैं। अतः शान्त, शिष्ट, पवित्र भावना से ही अच्छी प्रकार अन्न को चबा-चबा कर प्यार से प्रभु को धन्यवाद करते हुए खाना चाहिए। अन्न ग्रहण मन्त्र यथा—

१। ओ३म् अन्नपते अन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिनः।
प्रप्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥
॥ यजु० ११/८३॥

२। ओ३म् तेजोऽसि शुक्रममृतं आयुष्पा आयुर्मेपाहि।
देवस्यत्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो बाहुभ्यां पुष्णो हस्ताभ्यां आददे॥
॥ यजु० २२/१॥

प्रार्थना—हे (अन्नस्य) अन्न का मालिक परमेश्वर! — आप

हमारे (शुष्मिन) बल वीर्य पराक्रमादि को देने वाले हो। इसलिए ही (नो देह्यनमीवस्य) हमारे लिए नाना प्रकार के अन्नादि को प्रदान किये हो। हम जिस प्रकार आपने के लिए शुभेच्छा रखते है सो यह अन्न को जिन लोगों के सहायता से हमारे सामने आया है सो उन (प्रप्र दातारम्) दाता-प्रदाता आदि सभी के लिए शक्ति, बल, तेज, पराक्रमादि, ऐश्वर्यों के वृद्धि हो। सभी को लेकर ही हम प्रसन्न रहे।

हे (तेजोऽसि, शुक्र, अमृतं, आयुष्णा आयुमें पाहि) अपूर्व तेजमय, शक्ति, बल वीर्य तथा दीर्घायु को देने वाले प्रभो! हम अपने (बाहुभ्यां पुष्णो हस्ताभ्यां) दोनों बाहुओं के और हाथों के बल द्वारा जो कर्म करते हैं, खान-पान कर्मादि के मूल इन बाहुये यशस्वी बनकर हम दीर्घायु तक सदा आनन्द में समय बीतावें। यह कामना हमारी इस अन्नादि से सिद्ध हो। आप की कृपा दृष्टि सदा बनी रहे। अन्न का दान एक महत्वपूर्ण यज्ञ है।

मन्त्र में "अन्नपते" शब्द एक मात्र परमात्मा को कहा है। "प्र-प्रदातारम्" अर्थात् परमात्मा का दिया हुआ अन्न जिन लोगों के सेवा, दान, परिश्रम, अनुमति, पुरुषार्थ आदि के द्वारा सामने आया। यहाँ पर दाता-प्रदाता और भोक्ता तीन श्रेणी के पात्र हैं। अन्नदाता परमात्मा निष्काम होने से अन्न दान का फल ईश्वर को नहीं मिलता। 'प्र-प्रदातारम्' अर्थात् जिन-जिन लोगों के द्वारा अन्न को प्राप्त हुआ सो सभी को अन्न दान का फल शुभ कामना मन्त्र में कहा गया है। अन्न को खाने वाले के शरीर में खाद्य सें रस, रक्त, माँस, मेदा, हड्डि, मर्ां तथा वीर्य आदि उत्पन्न होकर बल, वीर्य, पराक्रम, दीर्घायु, यश, कीर्ति को प्राप्त होता है और प्राणी मात्र ही सन्तोष को प्राप्त करता है। ये ही संसार में शान्ति का प्रतीक एक महान शरीर यज्ञ है।

१७ । सप्तदश दर्पण । (यज्ञेश्वर पूजा पद्धति की विधि)

यज्ञ उसे कहते हैं, जिसके साथ दूसरे का मिलन या जोड़ होता है। उत्तम गुण युक्त पदार्थादि के साथ उत्तम का मिलना ही यज्ञ है। श्रेष्ठ गुण युक्त स्वभावादि का निर्माण करना ही श्रेष्ठ यज्ञ होता है। जिस कर्म के आयोजन से सर्वदा शुद्ध, पवित्र, निर्मल वायु मण्डल को पैदा होता है उसे ही यज्ञ कहते हैं। योग या मिलन के उपाय नाना विधी से यज्ञ भी अनेक प्रकार के होते हैं। इसलिए ही शास्त्रकार कहते हैं कि "यज्ञ वै श्रेष्ठतम कर्म" यावतीय शुभ कर्मों को ही यज्ञ कर्म कहते हैं।

यज्ञ की साधारण विधियाँ :—

(१) यज्ञ कुण्ड चतुष्कोन अच्छा होता है। उसका दिशा निर्णय भी मन्त्र विनियोग के साथ होता है। इसलिए चतुष्कोन यज्ञ कुण्ड उत्तम होता है। ऐसे तो नाना मत मतान्तर वाले चतुष्कोन, गोलाकार, त्रिकोन, पञ्च, अष्ट कोनादि नाना रूप बना लेते हैं और भावुकता से उसकी व्यख्या भी नाना प्रकार कर लेते हैं वह विज्ञान सम्मत नहीं है। समिधा-सामग्री आदि के आहुतिओं के परिमाण को देखते हुए कुण्ड भी बड़ा, चौड़ा बनाना चाहिए। ऊपर के आच्छादन भी उतनी ऊँचाई पर होनी चाहिए जिससे अग्नि के चिनगारियों से चीजे नष्ट न हों, तुरन्त आग पकड़ न लेवें।

(२) यज्ञ कुण्ड सुन्दर, सुगन्ध युक्त, चित्र कलायुक्त, पत्र, पुष्प, पल्लव शाखा आदि से सजाया हुआ हो। अपवित्र स्थान या भूमि में यज्ञ स्थान न हो। देश, काल, परिस्थति के अनुसार जहाँ तक हो सके उसकी अच्छी व्यवस्था करनी चाहिए।

(३) यज्ञ के लिए समिधा यथा आम्र, पलाश, शमी, तुलसी, वट,

वेल, अश्वथ्थ, यज्ञ डुमुर, देवदारू, चन्दन, धूप इत्यादि सुगन्ध युक्त समिधा हो। पोका, मकड़ी, कीड़े मिली कच्ची, अपवित्र और मलिनता युक्त नहीं जगह होनी चाहिए।

(४) सुगन्ध युक्त अगर-तगर, कस्तूरी, जयाफल, केशर, अगुरु, श्वेत चन्दन, रक्त-चन्दन, इलायची, दालचिनि, यावित्री, देवदारू, कपूर, जटा मांशी, मुथा, शूंठ, कन्टकारी इत्यादि बहुत सारे पदार्थ हैं जो कि यज्ञ में प्रयोग होते हैं।

(५) पुष्टि कारक घृत, दुग्ध, फल, मूल, कन्द, अन्न, ओषधि, यव, गम, तील, कलाई, छोहारे, गुड़, मिष्ट, नारिकेल, किसमिस आदि सूखे मेवे इत्यादि बहुत सारे पदार्थ सामर्थ्य अनुसार मिलावें।

(६) औषधि यथा धूप, धूना, आमगुरूज, सोमलता, इकनांगी इत्यादि सुगन्ध युक्त सभी ओषधि आदि का जहाँ तक हो प्रयोग करें।

(७) मिष्टान्न, खीर, हलुवा, घृत, भात, फल इत्यादि यज्ञ के पश्चात् प्रसाद भी वितरण हो सके। गृहस्थ के शक्ति सामर्थ्य और आय के प्रति ध्यान देतें हुए आयोजन करें जिसके पश्चात ताप या कष्ट न हो। इष्ट मित्रों के भोज, सिनेमा, विवाह, तीर्थ-यात्रा, मादक द्रव्य, मछली, मांस इत्यादि में यदि सर्वत्र खर्च कर सकते हैं, तब अच्छे दान पुण्य तथा धार्मिक अनुष्ठान युक्त श्रेष्ठ कार्य में भी पीछे रहना नहीं चाहिए।

(८) उपयुक्त यथा योग्य कर्म की व्यवस्था पहले तैयार रखें। जिस कार्य में पवित्र गुण, कर्म, स्वभाव तथा यश कीर्ति हो सो उसके प्रतिष्ठा को भी देखना चाहिए। पवित्र या श्रेष्ठ कार्य में कृपणता और अपवित्र कार्य में उदारता दिखाना महापाप है। अपवित्र, अपकर्म, निशिद्ध, अपयश कारक जितने आचरण युक्तकर्म हैं, उनमें कार्पण्यता और यज्ञादि श्रेष्ठ धर्मानुष्ठान युक्त कर्मों में उदारता महान गुण होता है।

(९) आचार्य, गुरू, पुरोहित, विद्वानों का सम्मान करना चाहिए। पुरोहित वरण एक श्रेष्ठ अंग, शक्ति तथा सामर्थ्य को देखते हुए पुरोहित को वस्त्र, अन्न, सुवर्ण, धातु-पात्र, आभूषण आदि भी दे सकते हैं। लड़की-लड़के के विवाह में यदि अपर्याप्त धन व्यय कर लेवें तो आचार्य, गुरू, पुरोहित आदि के प्राति भी ध्यान रखना उत्तम होता है। गृहस्थों को चाहिए कि शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार कार्य करें। जिसको नहीं है सो वे लोग वैसा ही शक्ति अनुसार कार्य करें। कभी न दे सकें या खिला पिला न सके तो यज्ञ कार्य नहीं किया ऐसा नहीं होना चाहिए। वर्त्तमान में ऐसी भी आदत बन गयी है कि कार्पण्यता के कारण अच्छे कार्य भी लोग छोड़ बैठते हैं क्यों कि मान मर्यादा, बड़प्पन की नशे को ठीक रखने के लिए, सामाजिक और धार्मिक कार्य के लिए यह कार्पण्य स्वभाव अच्छा नहीं है।

(१०) पुरोहित वरण के लिए देने योग्य सामान एक थाली में रखकर आतप अन्न, फल, वस्त्र, प्रज्वलित दीपक आदि से शोभित करके एक पात्र में चन्दनादि भी टीका करने के लिए रखें। वहीं वरण थाली पुरोहित मन्त्र बोलकर हाथ में लेवें और चन्दनादि से टीका करावें। पुरोहित वरण के पात्र को घर में न लेवें, इच्छा हो तो सामान लेवें। यदि पात्र को नये रूप से दान न दिया हो तो उसकी कामना न करें। निम्न यजमान पुरोहित के कार्य लोक व्यवहार मात्र हैं। इसका शिष्टाचार ही लोकानुशासन है।

(११) पुरोहित, गुरू, आचार्य का इस प्रकार चयन करें जो सदाचारी, विद्वान, धर्मात्मा, योगी, तपस्वी, चरित्रवान, ईश्वर उपासक, पवित्र खान-पान करने वाला हो। इसमें वेष-भूषा को देखना नहीं चाहिए। गुरु धारण करना ज्ञान के लिए होता है। सभी तरफ से जो

उत्तम है। जहाँ तक हो सके उनमें सर्वोत्तम गुरू का चयन ही कल्याण है। कुछ स्वार्थी, लोभी लोग कहते हैं कि सन्यासी यज्ञ नहीं करायेगा। वे लोग दीक्षा भी नहीं देंगे। सभी कुछ गृहस्थ पुरोहित लोग करेंगे। इस प्रकार के वातावरण में न फँसकर सर्वदा मूल उद्देश्य ईश्वर से लेकर जितने सर्वोत्तम गुण, कर्म, स्वभाव, आचरण, ज्ञान, कर्म उपासनादि का सहयोग ज्यादा से ज्यादा हो सके सो उन्हें ही यज्ञासन, पुरोहित, गुरू के रूप में चयन करें। यज्ञ वहीं लोग करें जिसके द्वारा प्रकृति के अन्दर दोषित मल-मूत्र धर्म आदि से प्रकृति के अन्दर विकार हो। साधु-सन्यासी, सन्त; महात्मा के शरीर से यदि विकार युक्त मल-मूत्र, धर्म निकला हो तो उन्हें भी यज्ञादि पवित्र कर्म करना चाहिए।

यज्ञारम्भ

यजमान :—ओ३म् अहम्भो स्वागतं करोमि। आसने उपविष्ठः।

हे पुरोहित, गुरू, आचार्य महोदय ! मैं आपको ईश्वर के नाम लेकर स्वागत करता हूँ। आप कृपया आसन पर बैठिए।

पुरोहित :—ओ३म् ! तत्सिद्धिरस्तु ॥

ईश्वर की कृपा से तुम्हारी सद्भावना युक्त कार्य सिद्ध हों बोलकर आसन में बैठ जावें।

यजमान :—ओम् अहमद्यामन्त्रित यज्ञ कर्म करणाय भवन्तं वृणे॥

मैं आपको आमन्त्रि यज्ञ कर्म करने के लिए वरण करता हूँ। आप कृपया मेरे शुभ कर्म को प्रारम्भ कराईए। यह बोलते हुए वरण पात्र को पुरोहित के हाथों में देवें और नमस्कार करें।

पुरोहित :—ओ३म् वृतोऽस्मि ॥

मैं इस कार्य को ईश्वर के नाम लेकर वरण सामग्री ग्रहण करता हूँ। कहकर वरण थाली से चन्दन का टीका एवं परस्पर माला भी प्रदान करें। थाली या वरण पात्र को पुरोहित दायें तरफ रखें।

यजमान के संकल्प :—ॐ तत्सत् इति ब्राह्मणो अस्मिन् सृष्टि कल्पे अधुना शुभ मुहूर्ते (अपना नाम उल्लेख कर) नामोऽहम् (और संस्कार का नाम उल्लेख करके) यज्ञ कर्म करणाय भवन्तं वृणे॥

पुरोहित :—ओ३म् समारब्धोऽस्मि ॥

अब भगवत् कृपया तुम्हारा कार्य आरम्भ करता हूँ। इस वाक्य को बोल कर सभी लोग सम्मिलित आचमन से शुद्ध हो। दाये हाथ में शुद्ध जल लेकर तीन बार अतीव, श्रद्धा, भक्ति, युक्तहो आचमन करें।

आचमन मन्त्र यथा—

१। ओ३म् शंनो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तुनः ॥ ऋ० १०/६/४

हे सर्व व्यापक शान्तिकेश्वर परमात्मन्! आप हमारे हथेली में शुद्ध-पवित्र शीतल जल के सम वाणी, कन्ठ, हृदय तक शान्त कर दो। जिसमें शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सभी प्रकार के दुःख, कष्ट, सन्ताप शान्त हो जावें और सभी तरफ से आनन्द की वर्षा होती रहे। हमारी कामनाएँ पूर्ण हो।

अंग स्पर्श मन्त्र यथा :—

निम्न मन्त्र बोलकर बाँए हथेली में लिए हुए जल दाँए हाथ के मध्यमा तथा अनामिक अंगुल के द्वारा प्रत्येक अंग के पहले दाये के तरफ

बाद में बायें तरफ अर्थात् दोनों तरफ शीतल जल स्पर्श करावें जिसमें सारे अंग प्रत्यंग जल के समान शान्त, पवित्र और निर्मल तथा कल्याण कारक होवें।

२। ओ३म् वाङ्म आसन् (हमारी मुँह, वाणी शान्त, पवित्र होवे)

,, नसो प्राणः (नासिका के दाँए-बाँये प्राण रहे).

,, चक्षु रक्ष्णोः (आँखों में शान्ति से दृष्टि शक्ति बनी रहे)

,, श्रोत्रं कर्णयोः (कानों में श्रवण शक्ति शांति से बनी रहे)

,, अपलिता केशाः (हमारी केश सदा अपरिपक्व रहे)

,, अशोना दन्ता (दाँत सदा चमकदार गिरने वाले न हो)

,, बहु बाह्वोर्वलम् (बाहुओं में शक्ति, बल, पराक्रम बना रहे)

,, ऊर्वो रोजो (दोनों टाँगों में बल-शक्ति बनी रहे)

,, जंघयोर्जवः (जंघाओं में वीरता धारण हो)

,, पादयोः प्रतिष्ठा (पैरों में प्रतिष्ठा बनी रहे)

,, अरिष्ठानि में सर्वात्मानिभृष्टः (आत्मा और शरीर बिगड़ने वाले अवस्था में न रहे)

अथ० १९/६०/१, ८॥

रक्षा बन्धन मन्त्र :—पुरोहित, गुरू या आचार्य निम्न मन्त्र को बोल कर लाल सुत्र का प्रतीक यजमान को हाथ (कबजी) में बाँध देवें। मन्त्र यथा—

१। ओ३म् उर्वी सद्मनी बृहती ऋतेन, हुवे देवानामवसा जनित्री।
दधाते ये अमृतं सुप्रतीके, द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥

ऋ० १/१८५/६॥

यज्ञेश्वर स्तुति प्रार्थना-उपासना :—अब आचमनादि शुद्धि के बाद शान्त, पवित्र, निर्मल भावना से बड़ी श्रद्धा, भक्ति, विनय के साथ यज्ञेश्वर भगवान के स्तुति, प्रार्थना, उपासनादि करें। यज्ञ स्वरूप ही भगवान है। संसार के सभी तत्वों के मूल ही ईश्वर का प्रतीक हैं। प्रत्येक कर्मों के मालीक यज्ञरूप ईश्वर को ही समझना चाहिए। यज्ञ कर्म ही पवित्रता की प्रतीक है। पवित्रता की प्रतीक ही एक मात्र ईश्वर है। इसलिए यज्ञेश्वर रूप में पुकारा गया है। प्रार्थना मंत्र यथा—

१। ओ३म् मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्रसोमिनः। मान्तः स्थुर्नो अरातयः ॥ ऋ० १०/५७/१ ॥

प्रार्थना—हे (इन्द्रः) इन्द्रदेव परम यज्ञेश्वर परमात्मन्! हम लोग एकत्र होकर इस (यज्ञात्) पञ्च महा यज्ञादि कर्म से (मा अन्तः) कभी उपराम न हो। यज्ञिय भावना हमारी सदा बनी रहें। जिससे सदा ही हमें (सोमिनः) ज्ञानामृत आनन्द मिलता रहें। हम लोग कभी (मा प्रगाम) विपरीत, निषिद्ध, अपवित्र, कूपथ गामी न हों अर्थात् पथ भ्रष्ट न हों। (मायज्ञात्) यज्ञादि शुभ कर्म से कभी दूर न हो। (अरातय) कभी हम निर्धन न होंवे और नाना दुःख कष्ट आदि से अरंक्षित न हो जाँय अर्थात् यज्ञादि शुभ कर्मों से हम सदा ऐश्वर्य युक्त होकर आनन्द ही आनन्द के साथ जीवन बीतावें। ये ही हम सभी आप से कामना करते हैं। आप हमारी कामनाएँ पूर्ण करो।

२। ॐ अग्ने त्वं सुजागृहिवयं सुमन्दिषीमही। रक्षाणोऽअप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥ य० ४/१४ ॥

प्रार्थना—हे यज्ञेश्वर (अग्ने) अग्नि देव परमात्मन्! (त्वं सुजागृहि वयं) आप हमारे अन्दर इस प्रकार सुन्दर रूप में प्रकट होवें जिस

प्रकार यज्ञ में अग्नि देव प्रज्वलित होकर सुन्दर, शुद्ध, पवित्र, निर्मल वायुमण्डल का निर्माण करके सृष्टि निर्माण में सहयोग करता रहें। उसी प्रकार ही (सुमन्दिषी महि) हम लोग इस शरीर राज्य के अन्दर सुन्दर, शुद्ध. पवित्र निर्मल, मन, बुद्धिवाला बनकर सदा आनन्द में रहें। हे प्रभो! परमात्मन् आप हमें सदा (रक्षानो) रक्षण, बधन, निर्माण, धारण करके (अप्रयुच्छन) प्रमाद, आलस्य उपेच्छादि न करके निरन्तर हमें बार-बार (पुनस्कृधि) शुद्ध, पवित्र और निर्मल कर दो।

३। ओ३म् पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥ अथर्व—१/१/२॥

प्रार्थना – हे वेद वाणी के (वाचस्पते, मालीक परम दयालु देव वाणीपति परमात्मन्! यज्ञ स्वरूप होकर (पुनरेहि) नित्य नये-नये रूप में शुद्ध पवित्रता के प्रतीक होकर हमारे हृदय मन्दिर में प्रकट होइये। जिसमें (देवेन मनसा सह) दिव्य-गुण, कर्म, स्वभाव युक्त दिव्य मन, बुद्धि वाला बनकर (निरमय) सुख, शान्ति, आनन्द के साथ जो कुछ श्रेष्ठ कार्य करते हैं सो वह पहले (मय्येवास्तु) हमारे अपने लिए ही सिद्ध हों। अपना सिद्ध किया हुआ और (मयि श्रुतं) मेरे द्वारा सुना हुआ गुण, कर्म, स्वभावादि से युक्त श्रेष्ठ आचरण पहले मैं अपने में ही सिद्ध करके दूसरों का उपकार करूँ। अतः हे समग्र संसार को बसाने वाले (वसोष्पते) सर्व रक्षकेश्वर मालीक परमात्मन्! आप हमें ऐसी शक्ति प्रदान करो जिससे हम सिद्ध साधक हो जावें। किसी भी प्रकार के अभाव न रहें।

४। ओ३म् यज्ञा-यज्ञा वोऽग्नये गिरा गिरा च दक्षसे।
प्र-प्र-वयममृतं जात वेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम्॥
यजु० २७/४२॥

प्रार्थना—हे यज्ञेश्वर अमृत फलप्रद प्रभो दयामय ! हम प्रतिदिन सायं-प्रातः (यज्ञा यज्ञा) पञ्च महा यज्ञ कर्मादि लगातार करते हुए (गिरा गिरा) वेद वाणी बोलते और साधना करते हुए (च दक्षसे) और बड़े शक्ति, सामर्थ्य आदि योग्यता के साथ साथ (प्र प्र वयम्) बार बार ही हम (अमृतम्) आपके ज्ञानामृत मुक्तानन्द को प्राप्त करें। अतः हे मेरे (जात वेदसम्) जात वेदा अग्नि परम पिता परमात्मन् ! (प्रियं मित्रम्, आपके सम प्रिय मित्र को पाने के लिये यज्ञादि कर्म के पून्य से आपको प्राप्त होने में किसी भी प्रकार के (न शंसिषम्) शंसयादि हमारे अन्दर न रहे। अर्थात् निःशंकोच भाव से आप हमें प्राप्त हों।

५। ओ३म् यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमन्यासन्।
तेहनाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

यजु० ३१/१६ ॥

प्रार्थना—हे यज्ञा धीश्वर प्रभु परमात्मन् ! आप यह सारे ब्रह्माण्ड को (यज्ञेन) यज्ञ के द्वारा (अयजन्त) सृष्टि किए हो, उस विधि-विधान से ही (यज्ञमयजन्त) यज्ञ से यज्ञ कर्म का प्रचलन हुआ। इस यज्ञ के विधि व्यवस्था (तानि धर्माणि प्रथमन्यासन्) सृष्टि के आदि से ही चलता हुआ आया है। जिसकी (महिमानः सचन्तः) अनन्त महिमा की (तेह नाकम्) मुक्तानन्द को पाने के लिए अपर्याप्त साधनादि करके (यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः) सृष्टि के आदि से ही दिव्य आत्माओं ने असंख्य योग, तप, साधनादि करके आप ही को प्राप्त किया है। अतः हे परम् कारूणिक परमात्मन् ! हमें वही शाश्वत ज्ञान, बुद्धि, बल, तेज, पराक्रमादि के साथ हमें मुक्तावस्था की ही प्राप्त हो।

६ । ओ३म् अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ ऋ० १/१२/१ ।

प्रार्थना—हे (विश्ववेदसम्) सब कुछ जानने वाले मेरे ज्ञान मय प्रभु (अग्निं) अग्नि देव परमात्मन् ! आपको ही हम लोग (वृणीमहे) केवल वरण या ग्रहण करते हैं। आपको छोड़कर और किसी को भी नहीं चाहते । क्योंकि (अस्य) यह अनन्त ब्रह्माण्ड को (यज्ञस्य) यज्ञ कर्म का (सुक्रतुम्) उत्तम रूप से रचाने वाले कर्त्ता आप ही हो । आप ही हमारे उत्पन्न करने वाले मालिक हो । अतः (दूतं) आपको ही हम संसार में सभी के दूत-रूप से मानते हैं । सभी के खबरआप रखने या जानने वाले होने से, आपके द्वारा ही हम सभी कुछ जानना चाहते हैं । अतः आप ही हमें प्राप्त हों ।

७ । ओ३म् आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे ।
दधाना नाम यज्ञियम् ॥ ऋ० १/६/४ ।

प्रार्थना—हे यज्ञेश्वर परमात्मन् ! (आदहस्वधां अनु) चारों दिशाओं से अग्नि जिस प्रकार उष्णता के द्वारा जल काणों के अणु परमाणुओं के निर्माण करते हो उससे ही वर्षन द्वारा जल, वायु, भूमि, ओषधि, वनस्पति, तृण. अन्न, फल, मूल, कन्द आदि का निर्माण करके (पुनर्गर्भत्वमेरिरे) अन्न से रस, रक्त, मांस, मेधा, अस्थि, मर्या-वीर्य आदि सप्त धातुओं का निर्माण करते हो । उसी.से ही बार-बार गर्भ आदि का निर्माण, धारण, पालन, पोषण हो रहा है । इस प्रकार के संसार चक्र को (दधाना) आप ही केवल मात्र धारण और सुव्यवस्था करने वाले हो । ये सारी दुनिया के माया-चक्र केवल मात्र (नाम

यज्ञियम्) यज्ञ के नाम से सम्पन्न होते हैं। अतः आप ही हमारे सभी प्रकार के यज्ञेश्वर रूप में सभी को प्राप्त हो। यही हमारी कामना आप पूरी करो।

८। ओ३म् अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि॥ साम० १/१/१।

प्रार्थना—हे मेरे (अग्न) अग्नि देव यज्ञेश्वर भगवन्! आप हमारे यज्ञ में (आयाहि) आइए। शीघ्र उपस्थित हो जाइए। यहाँ पर यज्ञ में आकर (हव्य) सभी आहुत पदार्थों को जो कुछ (गृणानः) हम मिलकर देते हैं उसे ग्रहण कीजिए। इन्हीं ग्रहणीय पदार्थों को सर्वत्र आप पाकर भी सभी को (दातये) वितरण करने वाले हो। अतः आप जैसे दानी को अनन्त गुणा बढ़ा चढ़ाकर वापस देने वाले हो। आपके समान इस दुनिया में और दूसरा कोई नहीं है। इसलिए (आयाहि) आप ही केवल आकर हमें प्राप्त हों। ये ही कामना हमारी पूर्ण हो।

९। ओ३म् त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः।
देवेभिर्मानुषे जने॥ साम० १/१/२।

प्रार्थना—हे मेरे यज्ञेश्वर प्रभो! आप ही एक मात्र (यज्ञानां होता) सभी प्रकार के यज्ञ कर्मों को ग्रहण करने, कराने वाले हो। जिससे (विश्वेषांहितः) सारी दुनिया का कल्याण हो। इसलिए ही आपको (देवेभिः) दिव्य, पवित्र, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्माएं और (मानुषे जने) मनुष्य मात्र ही आप को केवल चाहते हैं। अतः (त्वं अग्ने) यज्ञेश्वर भगवन्! आप ही हमें एक मात्र प्राप्त हो हमारे हृदय यज्ञ मन्दिर में आपके दर्शन के अनुभव हो! आपके भिन्न हमारा और कोई भी नहीं है।

॥ इति यज्ञेश्वर स्तुति प्रार्थना ॥

प्रश्न—वेदाश्रयी महाराज आप तो शुद्ध वैदिक मत भी नहीं मानते ? क्योंकि महर्षि दयानन्द संस्कार विधि तथा नित्यकर्म पद्धति में जो वेद मन्त्र द्वारा प्रार्थना में मन्त्र रखे हैं उसे आपने क्यों नहीं रखे ?

उत्तर— मैं उन मन्त्रों को यहाँ पर यज्ञ के प्रकरण में इसलिए नहीं रखा क्योंकि वेद विशाल ग्रन्थ है। गुण, कर्म, स्वभाव तथा देश, काल और कर्म व्यवस्था के विनियोग को देखते हुए उन मन्त्रों को महत्व पूर्ण नहीं देखा। क्योंकि प्रकरण है यज्ञ का यहाँ पर केवल ईश्वर उपासना का विषय नहीं है। केवल ईश्वर उपासना का विषय ब्रह्मयज्ञ में अर्थात् सन्ध्योपासना में हो गया है। अतः यहाँ पर अग्निहोत्र देवयज्ञ का स्वरूप सम्मिलित कर्म है। उसका विनियोग यज्ञ के साथ जोड़कर यज्ञ का मालिक ईश्वर के कर्म व्यवस्था की जानकारी करते हुए यह यज्ञ कर्म के अनुकूल मन्त्र का चयन किया गया है।

इसी भावना से युक्ति विज्ञान सम्मत सभी प्रकार धर्मानुष्ठान युक्त कर्मों में स्वस्ति और शान्ति प्रकरण के मन्त्रों को चुना है। ये मन्त्र सर्वदा पहले पाठ करना चाहिए। रोजाना पाठ करने से कुछ दिनों के अन्दर कण्ठस्थ हो जाता है और एक बड़ी ज्ञान की सम्पदा हो जाती है। उसके बाद इन मन्त्रों के स्मरण से आत्मिक, बौद्धिक और मानसिक शक्ति का विकास होता रहता है। इसलिए उत्तम गुण, कर्म, स्वभावादि का अभ्यास अवश्य ही रखना चाहिए। "अभ्यासेन हि सिद्धन्ति कार्याणि न मनोरथैः" प्रत्येक कार्य अभ्यास से ही सिद्ध होता है। मन में सोचने से कुछ नहीं होता। उसमें केवल अनुत्साह, दुर्बलता निराश, आलस्य, प्रमादादि उत्पन्न होते हैं। अब निम्न स्वस्ति वाचन के मन्त्रों को रखते हैं। सभी वेद मन्त्रों का पाठ करते समय प्रणव ओ३म् पहले बोलकर ही मन्त्र उच्चारण करें।

।। अथ स्वस्ति वाचनम् ।।

१ । अयं सुतुभ्यं वरुण स्वधावो हृदिस्तोम उपश्रितश्चिदस्तु ।
शंनः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयंपात स्वस्तिभिः सदानः ।।

२ । ऐतुपूषा रयिर्भगः स्वस्ति सर्वधातमः । उरूरध्वा स्वस्तये ।।

ऋ० ७/८६/८ ।। ऋ० ८/३१/११

३ । उत्पूषणं युवामहे अभीशूँ रिवसारथिः ।
मह्या इन्द्रं स्वस्तये ।। ऋ० ६/५७/६ ।।

४ । युवं नो येषु वरूणक्षत्रं वृहच्च विभृथः ।
उरुणो वाजसातये कृतं रायेस्वस्तये ।। ऋ० ५/६४/६ ।।

५ । एष ते देव नेता रथस्पतिः शंरयिः ।
शंराये शं स्वस्तये इषस्तुतो मनानहे देवस्तुतो मनामहे ।।

६ । ॐ स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसा विव ।
पुनर्ददताघ्नता जानता संगमे महि ।।

७ । पुनर्नो असु पृथ्वी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम् ।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यांया स्वस्तिः ।।

ऋ० ५/५०/५ ।। ऋ० ५/५१/१५ ।। ऋ० १०/५९/७ ।।

८ । येभ्यो माता मधुमत पिन्वतेपयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिवर्हाः
उक्थ शुष्मान्वृषभरान्तस्वप्नस्वस्तामादित्यामनुमदा स्वस्तये

९ । सनः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनोभव । सचस्वानः स्वस्तये ।।

१० । ह्वयामि अग्निं प्रथमं स्वस्तयेह्वयामि मित्रा वरूणा विहावसे ।
ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीं ह्वयामि देवं सवितार मूतये ।।
ऋ० १०/६३/३ ।।ऋ० १/१/६ ।। ऋ० १/३५/१ ।।

११ । या गुङ्गूर्या सिनीवाली या राका या सरस्वती ।
इन्द्राणीमह्व ऊतये वरूणानीं स्वस्तये ।। ऋ० २/३२/८ ।।

१२ । सनः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये ।
अपनः शोशुचदघम् ।। ऋ० १/६७/८ ।।

१३ । सनः पावकः दीदिहि द्युमदस्मे सुवीर्यम् ।
भवास्तोतृभ्यो अन्तमः स्वस्तये ।। ऋ० ३/१०/८।।

१४ । सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसंसुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैविनावं स्वरित्रामनागसमस्त्रवन्तीमा रूहेमास्वस्तये ।।

१५ । सुनावमा रूहेयं अस्त्रवन्तीमनागसम् ।
शता रित्रां स्वस्तये ।। यजु० २१/६, ७ ।।

१६ । अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानाम् ।
इयक्षमाना भृगुभिः सजोषाः स्वर्य्यन्तुयजमानाः स्वस्ति ।।

१७ । त्रातारमिन्दं अवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
ह्वयामिशक्रं पुरहूतमिद्रं स्वस्तिनो मघवा धात्विन्द्रः ।।

य० १७/६६ ।। य० २०/५० ।।

१८। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्तिनस्तार्क्षो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनोबृहस्पतिर्दधातु।
ॐ स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु॥ सा० १८७५॥

१९। परिदध्म इन्द्रस्य बाहू समन्तं त्रातुस्त्रायतां नः।
देव सवितः सोम राजन्त्सुमनसं मा कृणु स्वस्तये॥

२०। उदेनं भर्गो अग्रभीत् उदेनं सोमो अंशुमान।
उदेनं मरूतो देवा उदिन्द्राग्नीं स्वस्तये॥

२१। ॐ स्वस्ति तं मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनं
सुहमग्ने स्वस्ति अमर्त्यं गत्वा पुनरायाभिनन्दन्॥
अथर्व० ६/९९/३॥ अथ० ८/१/२॥ अथर्व० १९/८/३॥

॥ अथ शान्ति प्रकरणारम्भः ॥

१। ॐ अग्ने मृळीकं वरूणो सचाविदो मरुत्सु विश्वभानुषु।
तोकायतुजे शुशुचान शंकृधि अस्मभ्यं दस्मशंकृधि॥

२। एषते देवनेता रथस्पतिः शंरयिः। शंराये शंस्वस्तय इषः
स्तुतो मनामहे देवस्तुतो मनामहे॥

३। सोमारुद्रा धारयेथामसुर्यं प्रभामिष्टयोऽरमश्नुवन्तु।
दमेदमे सप्तरत्ना दधाना शंनो भूतं द्विपदेशं चतुष्पदे॥
ऋ० ४/१/३॥ ऋ० ५/५०/५॥ ऋ० ६/७४/१॥

४। शंनो मित्रः शंवरूणः शंनो भवत्वर्यमा।
शंन इन्द्रोबृहस्पतिः शंनोविष्ण रूरूक्रमः॥ ऋ०१/९०/९॥

५। शंनः सोमो भवतु ब्रह्मशंनः शंनो ग्रावाणः शंमु सन्तु यज्ञाः।
शंनः स्वरूणां मितयो भवन्तु शंनः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः॥

६। शंनो आदितिर्भवतु ब्रतेभिः शंनोभवन्तु मरूतः स्वर्काः।
शंनो विष्णुः शमु पूषानो अस्तु शंनो भवित्रं सम्वस्तुवायुः॥

७। शंनो देवा विश्वदेवा भवन्तु शंसरस्वती सह धीभिरस्तु।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शंनोदिव्याः पार्थिवाः
शंनोअप्याः॥ ऋ० ७/३५/७, ६, ११॥

८। शंवातः शंहिते घृणिः शंते भवन्त्विष्टकाः।
शंते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मात्वाभि शूशुचन्॥य०३५/८॥

९। सविता ते शरीराणि मातुरूपस्थऽआवपतु।
तस्मै पृथिवी शंभव॥ यजु० ३५/५॥

१०। सनः पवस्व शंगवे शंजनाय शमर्वते।
शं राजन्नोषधीभ्यः॥ सा० उ० १/१/३॥ (५४)

११। शंनो देवीरमिष्टये शंनो भवन्तुपीयते।
शंयोरभिस्त्रवन्तुनः॥ सा० पू० १/३/१३॥ (३३)

१२। शंन आपो धन्वन्याः शमु सन्त्वनूप्याः३। शंनः खनित्रिमा
आपः शमुयाः कुम्भ आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः॥
अथ० १/६/४॥

१३। शंते परस्मै गात्राय समस्त्वरायमे।
शंमे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वेऽमम॥ अथ० १/१२/४॥

१४ । शंत आपो हैमवतीः शमुते सन्तूत्स्याः ।
शं ते सनिष्यदा आपः शमुते सन्तुवर्ष्याः ॥अथर्व० १६/२/१ ॥

१५ । शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शंनो मित्रावरूणावश्विनाशम् ।
शंनः सुकृतां सुकृतानिसन्तु शंन इषिरो अभिवातुवातः ॥

१६ । शंते शूर्य आ तपतु शंवातो वातुते हृदे ।
शिवा अभिक्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ अथ० ८/२/१४ ॥

१७ । शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम् ।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तुनः ॥

१८ । शंनो मित्रः शं वरूणः शं विष्णुः शं प्रजापतिः ।
शंन इन्द्रो बृहस्पतिः शंनो भवत्वर्यमा ॥

१६ । शंनो मित्रः शं वरूणः शंविवस्शांछमन्तकः ।
उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शंनोदिविचरा ग्रहाः ॥

२० । यानि कानि चिच्छान्तानि लोके सप्तऋषयो विदुः ।
सर्वाणि शं भवन्तु में शंमे अस्त्वभयं मे अस्तु ॥

२१ । ॐ पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधय शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवा शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः । ताभिः शान्तिभिः सर्व शान्तिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिहपापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तुनः ॥
अ० १६/६/२, ६, ७, १३, १४ ॥

॥ इत्योम् शान्ति प्रकरणम् ॥

यहाँ पर स्वस्ति तथा शान्ति प्रकरण में २१-इक्कीस मन्त्रों के चयन युक्ति संगत किया है। अथर्व वेद में "ये त्रिसप्ता पर्यन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः" अर्थात् तीन सात गुणा इक्कीस समिधाओं से यह सारी दुनीया ब्रह्मणे बनाया "सप्तस्यासन परिधय, त्रिसप्ता समिधा कृताः" यहाँ पर भी यजुर्वेद का प्रमाण है कि इक्कीस समिधाओं से इस संसार को बनाया है। अतः यज्ञ रूप संसार में सुख-शान्ति के कामना पूर्त्ति के लिए इक्कीस मन्त्रों के चयन किया। यहाँ पर निम्न मन्त्र को श्रद्धा-भक्ति से पाठ करते हुए "यज्ञ बन्धु सूत्र" को धारण करें। पुराना हो तो उसे नये धारण करें। "यज्ञ बन्धु सूत्र का विशेष अर्थ उपनयन संस्कार में देखें।

यज्ञ सूत्र धारण मन्त्र

ओ३म् स चेतयन् मनुषो यज्ञवन्धुः प्रतं मह्यारशनया नयन्ति।
सक्षेत्यस्य दुर्यासु साधन्देवो मर्त्तस्य सघनित्वमाप ॥ ऋ० ४/१.९॥

कुण्ड पूजन श्रद्धा और भक्ति की प्रतीक है। यज्ञ कुण्ड ब्रह्मा की नाभी है। इसे शरीर तथा ब्रह्माण्ड की धूरी भी कहते हैं। "अयं यज्ञ भुवनस्य नाभिः" ॥ यजु० २३/६२॥ कहकर वेद में स्पष्ट किया है।

कुण्ड पूँजन मन्त्र

ओ३म् इयं वेदिः परोऽअन्तः पृथिव्याऽअयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णोऽअश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥
॥ यजु० २३/६२॥

प्रार्थना—हे परमात्मन्! (इयं वेदिः परो अतः पृथिव्य) यह यज्ञ की वेदी और इसके कर्म प्रक्रिया सह सृष्टि के प्रलय तक धराधाम में चलता रहेगा (अयं यज्ञः भूवनस्य नाभिः) यही यज्ञ प्रजापति ब्रह्माके द्वारा रचाया हुआ पृथ्वी और संसार की ही धुरी या नाभि के स्वरूप है। (अयं सोमो) इस यज्ञ कुण्ड में दिये हुए आहुतिओं के पौष्टिक ओषधि, वनस्पति, घृत, फल, मूल, कन्द, अन्न आदि के आहुतिओं के सुन्दर सुगन्ध दायक सोम शक्ति (अश्वस्य रेतः) घोड़ा के तीव्र शक्ति के सम

सर्वत्र सृष्टि में सहयोग करें। (विद्मायं) यही ब्रह्म का वास्तव में यथार्थ
स्वरूप है। (वाचं) मन्त्र बोलते हुए आहुति की प्रक्रिया भी ब्रह्मवाणी वेद मन्त्र से ही आहुति को देते हैं जिसमें (परमं व्योम) दिये हुए सुगन्ध, पौष्टिक आहुतिओं की सुन्दर शक्तियाँ अनन्त आकाश मण्डलों में वितरित हों। यही हम एकमात्र श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और नतमस्तक होकर कामना करते हैं। हमारी कामनाएँ प्रभो सिद्ध हों।

इस प्रकार कुण्ड पूँजन करके बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ यज्ञ कुण्ड में समिधा रखें। बड़े ४ समिधाएँ ४ जन कर्म कर्त्ता लोग ऊपर की ओर खड़े करके, हाथ जोड़ चारों कोनों में खड़े हो जावें। अपने यज्ञ में आये हुए सभी लोगों की दृष्टि उस समिधा के प्रति रहे। सम्मिलित भावना से सभी लोग मन्त्र बोलें और पुरोहित के द्वारा इसका महत्व सुने। शरीर में आत्मा के समान अग्नि अदृष्ट है। शरीर रूप समिधा देखा जाता है ये ही समिधा को अग्नि देव धारण करके यज्ञ में साकार रूप से भष्म करता रहेगा और अनन्त ब्रह्माण्ड में वितरित करेगा। इसलिए यह समिधा ही अग्नि का शरीर है। इसके ऊपर की ओर खड़े का अभिप्राय यह है जिसमें अग्नि भी ऊपर की ओर निरन्तर बढ़ती है। उसका खाया हुआ आहुति पदार्थों की शक्ति भी ऊपर ही जायेगा। मेरा शरीर में भी खाया हुआ और जरूर अग्नि से पकाया हुआ खाद्यान्न से रस, रक्त, माँस, मेध, अस्थि, मर्या, वीर्य और ओज आदि के निरन्तर ऊर्द्ध गति को चाहते हैं। हम सभी सर्वदा ही उन्नति अर्थात् निरन्तर आगे को बढ़ना चाहते हैं। ४ समिधा चारों तरफ चारों कोनों में खड़े करके रखना माने सूक्ष्म से वृहत, नीचे से ऊपर चतुर्दिशा से हमारी भावनायें निरन्तर बढ़ती रहें। हमारा इस यज्ञ को करना सार्थक हो। हम निरन्तर बढ़ते रहें। जिस प्रकार समिधा में अग्नि निरन्तर लगे हुए अवस्था में प्रज्ज्वलित रहती है ठीक उसी प्रकार ही हम इस पवित्र यज्ञादि कर्म में लगे रहें।

समिधा चयन मन्त्र

ओ३म् ऊर्ध्वाऽअस्य समिधो भवन्ति ऊर्ध्वाशुक्रा शोचींष्यग्नेः ।
द्यु मत्तमा सुप्रतीकस्य सूनोः ॥ यजु-२७/११ ॥

प्रार्थना—हे यज्ञेश्वर परमात्मन् ! (ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्ति) इस समिधा को हम ऊपर की ओर खड़े रखते हैं । जिस प्रकार समिधा से अग्नि देव सभी कुछ भस्म करके ऊपर की ओर ले जाता हैं ठीक उसी प्रकार हम भी हमारे जीवन यात्रा रूप यज्ञ में (ऊर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः) बल, वीर्य, पराक्रम, ज्ञान, विज्ञानादि को सभी तरफ से निरन्तर ऊपर अर्थात् आगे के तरफ बढ़ते-बढ़ाते रहें । इस (द्यु मत्तमा सुप्रतीकस्य) दो दुल्यमान संसार में निरन्तर बढ़ने का एक मात्रा सुन्दर प्रतीक ही हमारा यह यज्ञ है । आप से हमारी करजोर प्रार्थना कर्म फल प्राप्ति के उद्देश्य को (सुनोः) स्वीकार करो । हमें सर्वदा श्रेष्ट पथ पर ले चलो ।

अब इस प्रकार भावना से समीधा को सजावें जिससे अग्न्याधान में तुरन्त अग्नि निरन्तर बढ़ती रहें । अग्नि ही संसार का दूत है । जिस प्रकार राष्ट्र के संवाद बाहक के द्वारा सभी खबरे पहुँचाया करते है ठीक इस यज्ञ में भी अग्नि देव संसार का दूत है । कौन कहाँ पर क्या-क्या देगा सो उसका ही गन्ध तथा वायु मण्डल को प्रभावित करके सभी को अग्नि देवता ही बता देगा ।

अब यजमान एक दीपक को अपने सामने कुण्ड के दायें कोने में रखें । सभी की नजर दीपक की तरफ रहे और पुरोहित के द्वारा बोलते हुए मन्त्र का उच्चारण और श्रवण यजमान करें ।

दीपक प्रज्वलित मन्त्र यथा

ओ३म् अग्निं दूतं पुरोदधे हव्यवाहमुपब्रुवे ।
देवां आसादयादिह ॥ ऋ० ८/४४/३ ॥

प्रार्थनार्थ—हे यज्ञेश्वर परमात्मन ! हम सभी मिलकर (अग्निं दूतं पुरो दधे) अग्नि दूत को सामने स्थापित करते हैं । जिससे (हव्यवाहम) आहवनीय पुष्ट कारक साधन अग्नि देव भस्म करके निरन्तर सर्वत्र ले चलें तथा सभी को (उपब्रुवे) अच्छे प्रकार ज्ञान करा देवें जिसमें संसार के सभी को प्राप्त हो जावें । इसलिए हे अग्नि देव ! आपका हम स्वागत करते हैं । आप कृपया (आसादयादिह) चारों तरफों से आओ और हमारे दिए हुए साधनें ग्रहण करो ।

अब अग्नि को यज्ञ कुण्ड में यजमान स्थापना करेंगे । सभी की नजर श्रद्धा, भक्ति, प्रेम तथा विनय भाव से अग्नि के तरफ रहे। कभी भी इधर उधर की अप्रसंग में मन का सोच विचार ही अच्छा नहीं है । श्रेष्ठ कार्य में लगा रहने से शरीर यज्ञ भी मन, बुद्धि, आत्मा और परमात्मा के ज्ञानाग्नि में चलता रहता है । निम्न मन्त्र बोलते हुए, चम्मच में कपुर आदि या रूई के बत्ती बना घृत लगाकर यथा योग्य सुविधानुसार पवित्र द्रव्यों से ही अग्नि प्रज्वलित करें ।

अग्नया धान मन्त्र यथा

ओ३म् भूर्भुवः स्वः द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठेऽअग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥
॥ यजु० ३/५ ॥

अब अग्न्याधान के बाद व्यजन अर्थात वायु को संचालन करना है। यज्ञ में शरीर रूप समिधा, श्रद्धा-भक्ति रूप घृत, सूक्ष्म सामग्री है मन का संकल्प, विकल्प वायु है अग्नि का प्राण। अग्नि है आत्मा या परमात्मा। संसार के पार्थिव वस्तु है शरीर का तत्व । आकाश है मस्तिष्क। भूमि है कुण्ड। दिशा है हस्त। इस प्रकार से यज्ञ के महत्व को अल्प में समझें।

प्रश्न—वेदाश्रयी महाराज जी ! आपने तो हमारे किये कराये यज्ञ के प्रणाली सभी कुछ बदल दिए है ? यह अच्छा नहीं किया । हमारा अभ्यास तो दूसरे प्रकार का बन गया था । ?

उत्तर—देखो ! ज्यादा प्रश्न करने का प्रयास मत करो ? आपको ईश्वर ने बुद्धि, ज्ञान, विवेक दिया है। उसको भी आपने पुरुषार्थ में लगाने से वास्तविक तत्व को मिलने लग जाता है। मैंने कोई नये रूप की स्थापना नहीं की। यदि कोई त्रुटि समझ में आवे तो वेद भगवान का समझ करके उनसे पूछा करो कि ईश्वर ने ऐसा प्रसंग को क्यों लिखा। मैंने तो वेद का ही आश्रय और अनुकरण किया है। मन्त्र के अर्थ और विनियोग यथा योग्य मिल रहा है। जो लोग नहीं पढ़े हो लेकिन मातृ-भाषा को जानते हों वे भी इन प्रकरणों के मन्त्रों के भावार्थ तुरन्त समझ लेंगे और बहुत आनन्द आने लग जायेगा। जो कुछ भी तुम नया समझते हो वह नया नहीं है सभी कुछ पुराना है, वेद का ही प्रमाण है। व्यक्ति-गत रूप में आहुति रहा। जो कुछ अपने अभ्यास में से खो रहे वह वेद का प्रमाण नहीं है। दूसरी बात मन्त्रार्थ विनियोग व्यवस्था के साथ-साथ उत्तमता से मिला नहीं है इसलिए नया मालुम होता है। एकबार जानने से पुराना हो जायेगा। निरन्तर ज्ञान वृद्धि करना ही मनुष्यों का महत उद्देश्य होना चाहिए।

अब वायु रूपा प्राण को संचालन के लिए मन्त्र उच्चारण के साथ-साथ धीमे-धीमे वायु को चलाना है जिससे अग्नि को प्रज्वलित होने में सहयोग हो। वायु के अभाव में अग्नि रहती नहीं। अतः वायु से ही अग्नि उछलता हुआ बढ़ता है। अतः सूक्ष्म रूप से ही वृहत आकार धारण करने का एक मात्र प्रतीक ही वायु है।

व्याजन मन्त्र यथा

ओ३म् ऊर्जो न पातमाहुवे अग्निं पावक शोचिषम्।
अस्मिन् यज्ञे स्वध्वरे॥ साम० १७१२।

यहाँ पर यज्ञ में पृथक रूप से पंखा रखना चाहिए। दूसरे कार्य में

यज्ञीय साधनों का प्रयोग न हो। इसमें कार्य के समय अव्यवस्था नहीं होती अन्यथा पंखा के बजाय प्लेट-पुस्तकें इत्यादि से आपत काल में अग्नि बूझने पर हवा करते रहते हैं। यह अभ्यास अच्छा नहीं है। समिधा आहुति यजुर्वेद में "समिधोह तिस्त्र० २३/५८ बोलकर प्रमाण मिलने से हमने स्वीकार किया है।

अब जीवात्मा के निवास के लिए अष्ट अंगुली अर्थात अष्ट वसु के रूप में समिधा को घृत लगाकर बाये हाथ में लेकर मन्त्रों से ३ बार यथा क्रम से आहुति देवें। यज्ञ में भाग लेने वाले सभी लोग आहुतिओं में जोर से प्यार के साथ स्वाहा बोलें।

समिधा प्रदान मन्त्र यथा

१। ओ३म् समिधाग्निं द्युवस्यत घृतै र्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा॥ इदमग्ने। इदन्न मम॥

२। ओ३म् सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे। इदन्नमम॥

३। ओ३म् उपत्वाग्ने हविष्मति घृताचीर्यन्तु हर्यत।
जुषस्व समिधो मम स्वाहा। इदमग्नये। इदन्न मम॥

यजु० ३/१, ४॥

यहाँ पर दूसरे ग्रन्थों में "अयन्त इध्म आत्मा" बोलकर समिधा आहुति पहले देते हैं। वह वेद मन्त्र नहीं है। सूत्र ग्रन्थों से आहुति का विधान वेद मन्त्र मानकर देना हम उपयुक्त नहीं मानते। क्योंकि गीता में भी कहते है "मन्त्र हीनं....... ....तामसं" ॥ १७।१३॥ मन्त्र के विना आहुति का फल तामसिक है। अतः मन्त्र वेद में ही होता है। अन्यत्र सूत्र-श्लोक आदि का विषय होता है। ईश्वर कृत ही मन्त्र तथा मनुष्य कृत सूत्र-श्लोक समझना चाहिए। सूत्रों से आहुति देने से परवर्ति काल

में उत्तम अर्थ संगति युक्त श्लोक, गद्यांश, कविता, लोक गीत, लोक भाषा और नाना प्रकार के मन-माना उपाय जोड़ता हुआ यज्ञ कर्म करते रहने से वैदिक अनुशासन में अव्यवस्था होती रहेगी।

प्रश्न--वेदाश्रयी जी महाराज! आप तो ऋषिओं की भी भूल पकड़ते हैं? ये भी तो अव्यवस्था है?

उत्तर - देखो! वेद में जब एक ही स्थान पर तीन ही समिधा की आहुति की व्यावस्था है तो हम "अयन्त इध्म" के पीछे क्यों जावें वेद का कहना मान लेवे या ऋषिओं का? हमारे विचार में वेद का कहना ही ठीक होगा और यही मान्य है।

'समिधाग्नि दुवस्य' और 'सुसमिध्याय' ये दोनों मन्त्र अर्थ संगति में पूर्ण हैं। ये दोनों मन्त्र एकत्र मिलाकर आहुति का कोई विधान नहीं है। बीच में 'स्वाहा' तथा 'इदन्न मम०' बोलना भी मिथ्या आचरण होता है। जब आहुति दिया नहीं तो "इदन्न मम०" बोलना अप्रसंग दोष है।

अब पञ्च घृता हुति का बहुत बड़ा महत्व है। पञ्च शब्द के साथ मन्त्र का विनियोग मिल रहा है। पञ्च भौतिक तत्वों के द्वारा ईश्वर ने अन्तर्निहित रहकर सारी दुनिया को बनाया। अतः जो है ससार में वही है शरीर पिण्ड में। इसलिए पञ्चप्राण, पञ्चनागादि, पञ्चज्ञान, पञ्च कर्म, पञ्चभूतों के नाम से पाँचवार, पञ्चघृताहुति का विधान किया है। अतः निम्न मन्त्र बोलकर पञ्चवार पाँच घृताहुति देवें। यह वेद मन्त्र का ही शब्दार्थ संगति युक्त विनियोग व्यवस्था है। इसलिए "अयन्त ईध्म०" मन्त्र मान कर सूत्र को स्वीकार करना ही भूल है। दूसरे तरफ पाँच घृत या समिधा देने का भी मन्त्र के साथ विनियोग व्यावस्था भी टाना खींचा करके थोपना हुआ है। स्वाहा बोलना ही आहुति देना होता है। आहुति देकर ही 'इदमग्नये इदन्नमम' कह सकते हैं। यह एक सीधी सरल बात है।

अब निम्न एक ही मन्त्र में पाँच बार घृताहुति देना है। उसमें इतना भेद है कि नीचे के लिखा हुआ मन्त्र में शेष भाग में लम्बी रूल चिन्ह लगाया हुआ है। नम्बर २, ३, ४, ५ के लिखा हुआ मंत्रांशों को रूल चिन्ह स्थान में ही यथा क्रम से बोलकर आहुति देना है। घृत आहुति देने वाले मुख्य यजमान को छोड़कर और सभी लोग सामग्री आदि के आहुति दे सकते हैं। आहुति का देना ही उत्तम सुगन्ध विस्तार करना होता है।

पञ्चघृताहुति मन्त्र यथा

१। ॐ पञ्चस्वन्तः पुरुषः आविवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि। एतत्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मिन् मायया भवसितेभ्यः पञ्च प्राणेभ्यः स्वाहा। एभ्यः पञ्चप्राणेभ्यः। इदन्न मम् ॥

यजु २३/५२ ॥

२। पञ्चनागादिवायवेभ्यः स्वाहा। एभयोनागादिभ्यः। इदन्नमम् ॥

३। पञ्चज्ञानेन्द्रियेभ्यः स्वाहा। एभ्यः ज्ञानेन्द्रियेभ्यः। इदन्नमम् ॥

४। पञ्चकर्मेन्द्रियेभ्यः स्वाहा। एभ्यः कर्मेन्द्रियेभ्यः। इदन्नमम् ॥

५। पञ्च भूतेभ्यः स्वाहा। एभ्यः भूतेभ्यः। इदन्नमम् ॥

अब यज्ञ कुण्ड के चारों तरफ जल सिञ्चन करने का मन्त्र है। जल शांति का प्रतीक है। यथाक्रम से मन्त्र में ही दिशा का वर्णन करके बताया है। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में जल सिञ्चन करके चारों तरफ घूमा देना है।

जल सिञ्चन मंत्र यथा

१। ॐ प्राच्यांत्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधया मादधामि ॥

२। ॐ दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधया मा मादधामि ॥

३। ॐ प्रतीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधया मा दधामि ॥

४। ॐ उदीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायां मा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानांहुत भागा इहस्थ॥

॥ अथर्व० १८/३/३०, ३१, ३२, ३३॥

अब निम्न मन्त्र से प्रजापत्याहुति का विधान है। पुरुष प्रज्वलित अग्नि के दक्षिण भाग में, स्त्री—अग्नि के उत्तर भाग में तथा परवर्ति दोनों आहुति अग्नि के मध्य भाग में मिलकर दोनों देवें। जब यजमान अकेले यज्ञ करता हो तो उसी प्रकार अकेला भी वैसा ही आहुति देवें। पुरुष उष्णता सूर्य के प्रतीक है और स्त्री—सोम शीतलता या शान्ति की प्रतीक है। दोनों के मिलने से ही प्रजायें होते हैं। इसलिए इसे प्रजापत्याहुति कहते हैं।

पुरुष प्रक्रव्याहुति

१। ॐ अग्नये कुटरूणालभते स्वाहा॥ इदमग्नये। इदन्नमम्॥

२। ॐ सोमाय हँसानालभते स्वाहा॥ इदं सोमाय। इदन्नमम।

३। ॐ अग्नि सोमाभ्यां चाषानालभते स्वाहा॥

आभ्यां अग्निसोमाभ्यां। इदन्नमम॥

४। ओ३म् प्रजापतये पुरूषानालभते स्वाहा॥

इदं प्रजापतये। इदन्नमम॥ यजु० २४/२३, २२, २३, २६॥

अन्य ग्रन्थ में सायं और प्रातः कालीन आहुति के लिए यजुर्वेद के २ मन्त्र तोड़कर ८ आहुति का विधान किया है और प्रायः उभय कालीन आहुति के लिए दोनों समय की आहुति एक समय में ही दिया करते हैं। अतः यहाँ पर वेद में उभय कालीन आहुति के रूप में शब्द अर्थ और विनियोग व्यवस्था यथा योग्य उभय शक्ति के लिए मिल रहा है।

उभय कालीन मंत्राहुति

१ । उभावामिन्द्राग्नी आहुवध्या स्वाहा । इदमुभयभ्यां । इदन्न मम ॥
२ । उभाराधसः सहमादयध्यै स्वाहा । इदमुभयभ्यां । इदन्नमम ॥
३ । उभादाताराविषां रयिणां स्वाहा । इदमुभयभ्यां । इदन्नमम ॥
४ । उभावाजस्य सातये हुवेवाम् स्वाहा । इदमुभयभ्यां । इदन्नमम् ॥
यजु० ३/१३ ॥

यज्ञ में यहाँ पर काल या समय का निर्धारण मन्त्र नहीं समझना चाहिए । उभय अर्थ दोनों के मिलन ही वृद्धि के सूत्रपात समझना चाहिए

सामान्य प्रकरणाहुतियाँ

१ । ओ३म् आपो देवीर्बृहतीर्विश्व शम्भुवो द्यावा पृथिवी उरो अन्तरिक्षः । बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा ॥ इदं बृहस्पतये । इदन्नमम । यज०४ । ७ ॥

२ । ओ३म् यज्ञा यज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे । प्रप्रवयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् स्वाहा ॥ इदं प्रियमित्राय इदन्न मम ॥० यजु० २७/४२ ॥

३ । ओ३म् अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानिदेव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मत् जुहुराणमेनो भूयिष्ठांन्ते नम उक्तिं विधेम स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्नमम ॥ यजु० ४०।१६ ।

४ । ओ३म् प्रजापतेन त्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि परिता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये इदन्न मम ॥ ऋ० १०।१२।१० ॥

५ । ओ३म् विश्वानिदेव सावितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्ना- सुव स्वाहा ॥ इदं भद्रेश्वराय । इदन्नमम । यजु० ३०।३॥

अब गायत्री महामंत्र से कम से कम तीन आहुति देवे। ज्यादा में कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

१। ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात् स्वाहा॥ इदं मन्त्रेश्वराय। इदन्नमम॥ यजु० ३६।३॥

अब प्रायश्चित्ताहुति में अन्न, फल, मूल, कन्द, पक्वान्न, मिष्ट, मधु, घृत, ईत्यादि पुष्टि कारक जहाँ तक हो सके, उसका कोई प्रतिबन्ध नहीं है, मिर्चा, मसाले, नमक आदि मिश्रित कोई वस्तु आहुति में न देवे।

प्रायश्चित्याहुति या पाप मोचन आहुति मन्त्र

ॐ यन्मेदमभि शोचति येन येन वा कृतं पौरूषेयान्न दैवात्। स्तौमि द्यावा पृथ्वी नाथितो जोहवीमि तेनो मुञ्चतमंहस स्वाहा॥ इदं पापमोचनाय। इदन्नमम॥ अथर्व०। २६।७॥

अन्य ग्रन्थ में "यदस्य कर्मणोऽत्य०" सूत्र ग्रन्थ का है वेद मन्त्र नहीं है इसलिए नहीं प्रयोग किया। अब निम्न में पूर्णाहुति का मन्त्र भी वेद मन्त्र का बिनियोग है। दूसरे ग्रन्थ में नहीं है। पूर्णाहुति में यजमानों के तथा आये हुए लोग अपने-अपने श्रद्धा के अनुसार पूर्ण फल या तोड़ा हुआ सर्वोत्तम पदार्थों का ही आहुति में प्रयोग करें। इतना ध्यान रखना चाहिए कि अग्नि अन्त तक भस्म कर सकें। ये नहीं कि अग्नि बुझ गया और पूर्णाहुति के सामान बच्चों ने उठा लिया। पूर्णाहुति के समय एक बार में ही सभी लोग बायें हाथ में ज्यादा सामग्री ले लेवें और दाये हाथ से उसमें से लेकर तीन बार आहुति देवें। पात्र से बार बार उठाने में सभी को अव्यावस्था हो जाती है।

पूर्णाहुति मंत्र यथा

ॐ आमापुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौस्याम। पूर्णा दर्विपरापत सुपूर्णापुनरापत। सर्वान् यज्ञान् संभूजति इशमूर्ज

न आभरोम स्वाहा। सर्वान् यज्ञान् संभूजत्योम् स्वाहा।
सर्वान् यज्ञान् संभूजत्योम् स्वाहा॥ अथर्व० ३/१०/७॥

अब पूर्णाहुति के पश्चात् सभी लोग अतीव श्रद्धा-भक्ति और प्रेम के साथ बैठकर सम्मिलित प्रार्थना करें।

यज्ञशेष प्रार्थना मंत्र यथा

१। ओ३म् मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।
मान्तः स्थूर्णो अरातयः॥ ऋ० ऋ० १०/५७/१

प्रार्थना—हे यज्ञेश्वर परमात्मन्! आप हमारे प्रति ऐसी कृपा दृष्टि कीजिए जिस से हम सर्वदा श्रेष्ट, पवित्र गुण, कर्म, स्वभाव युक्त यज्ञादि कर्मों से दूर न रहें और निन्दनीय, अपवित्र, निषिद्ध, पापादि दुःख-कष्ट दायक कर्मों में फँसा न रहें। यही आपसे हमलोग विनय पूर्वक प्रार्थना करते हैं। हमारी प्रार्थना आप स्वीकार करो प्रभो! स्वीकार करो।

अब यज्ञ के घृत पात्र में कुछ जल लेकर उसे हलका गरम करें और एक चम्मच से सभी लोग जल को हाथ में लेकर अंगों में लगावे। उसका मन्त्र पाठ के साथ-साथ जल का प्रयोग करें। निरोग या आरोग्य होने की भावना से ही मार्जन करें।

अंगमार्जन मंत्र यथा

ओ३म् अग्ने तनूपा अग्ने असि तन्वं मे पाहि। आयुर्दा अग्ने अस्यायुर्मे देहि। वर्चोदा अग्ने असि वर्चोमे देहि। अग्ने जन्मे तन्वाऊनं तन्व आपृन॥ ॥यजु०- ३।१०

अब यजमान शक्ति के अनुसार गुरू, आचार्य, पुरोहित आदि को हाथ जोड़कर धातु, रुपये, वस्त्र, फल, अन्न, इत्यादि जो कुछ हो सके अच्छी वस्तुऐं प्रदान करें जिसे ग्रहण कर्त्ता प्रयोग कर सकें। मन्त्र बोल

कर ही दक्षिणा प्रदान करें। गुरूजनादि के सादर चरण स्पर्श करके आदर अभ्यर्थना में लग जावें। दक्षिणा प्रदान के बाद ही अन्य भजन, कीर्तन, उपदेश होना चाहिए। अन्यथा यज्ञ में उपस्थित जनों में उतावेला होती है और यजमान को दक्षिणा देने में हेरफेर तथा अव्यावस्था हो जाती है।

दक्षिणा प्रदान मन्त्र

ॐ भद्रं वै वरंवृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम्।
भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः ॥ ऋ० १०।१६४।२ ॥

पुरोहित के आशीर्वाद मन्त्र

ॐ दक्षिणावान् प्रथमो हुतमेति दक्षिणावान् ग्रामणीर ग्रमेति तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय ॥
ऋ० १०/१०७/५ ॥

इस मन्त्र को पुरोहित बोलकर दक्षिणा लेवें और यज्ञ भस्म का टीका करावें तथा पुष्प आदि का वर्षन करें। इसके बाद सभी आगन्तुक सम्मिलित आशीर्वाद करेंगे। सभी लोग हाथों में पुष्प आदि वस्तु बाये हाथ में लेकर दाये हाथों से सभी लोग तीन बार पुष्प वर्षन करें।

आशीर्वाद वाक्य

ॐ त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः। आयुष्मान्, तेजस्वी, वर्चस्वी, उजस्वी, श्रीमान, कल्याण वाहकः भूयाः। सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा विद्विषावहै। मा कस्यचित्दुःख भागभवेत्। ॐ स्वस्ति, स्वस्ति, स्वस्ति।

शान्ति मंत्र पाठ

ॐ पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्ति द्यौं शान्तिरापः शान्तिरोषधय शान्तिः वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्ति सर्वे मे देवा

शान्तिः। शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः। ताभिः शान्तिभिः सर्वशान्तिभि। शमयामोऽहम् यदिहघोरं यदिहक्रुर यदिह पापं तत् शान्तं तत् शिवं सर्वमेवशमस्तुनः.। अथर्व० १६/६/१४

अब आये हुए सभी आगन्तुकों को यज्ञ भस्म के टीका करें तथा प्रसादादि से आदर अभ्यर्थना करें और सुविधा के कार्यक्रमानुसार भक्ति, भजन, कीर्तन उपदेश आदि चलता रहें।

जब कोई विशेष यज्ञ हो तो सामान्य प्रकरण के सभी कार्य करके गायत्री मन्त्र से पूर्व निम्न में दिये हुए मन्त्रों से विशेष आहुति देवें। उसके बाद ही गायत्री और प्रायश्चित्याहुति आदि प्रदान करें।

विशेष यज्ञाहुति मंत्र यथा

१। ओ३म् भूर्भुवः स्वः। प्रजापतेन त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि-परिता बभूव। यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽस्तुवयं स्याम पतयोरयिणाम्स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये। इदन्नमम ॥

ऋ० १०/१२१/१० ॥

अब इसके नीचे में सभी आहुतियाँ मन्त्र में ही घृत के नाम उल्लेख करके ही विनियोग व्यवस्था है। अर्थात् विशेष करके पूर्ण मात्रा में चम्मच भर घृत होना चाहिए। सामग्री आदि का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

२। ओ३म् आनो मित्रा वरूण घृतैर्गव्युतिमुक्षतम्। मध्वा रजांसि-सुक्रतू स्वाहा ॥ आभ्यां मित्र वरूणाभ्यां। इदन्नमम ॥

ऋ० १०/१२१/१०॥३/६२/१६॥

३। ओ३म् अश्वावतीः गोमतीर्ण उषासो वीरवतीः सदमिच्छन्तु भद्राः। घृतंदुहाना विश्वतः प्रपीता युयं पातस्वतिभिः सदानः स्वाहा ॥ इदं स्वस्तये। इदन्नमम ॥ यजु० ३४/४०

४ । ॐ घृतंते अग्ने दिव्येसधस्थे घृतेन त्वामनुरद्या समिन्धे ।
घृतंतेदेवीर्णप्त्यावहन्तु घृतंतुभ्यंदुहता गावो अग्ने स्वाहा ॥

५ । ॐ घृतवती भूवनानां अभिश्रियोर्वी पृथिवी मधुदुघेसुपेशसा ।
द्यावापृथिवीवरूणस्यधर्मणा विष्कभितेअजरेभूरिरेतसा स्वाहा ।
अथ० ७/८२/६॥ यजु० ३८/४५ ॥

६ । ॐ आयुष्पानग्नेहविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि ॥
घृतंपीत्वामधुचारूगव्यं पितेवपुत्रमभिरक्षतादिमान्त-स्वाहा ।

७ । ॐ येकीलालेनतर्पयथो येघृतेन याभ्यामृतेनकिञ्चनशक्नुवन्ति
घावा पृथिवी भवतं मेस्योने तेनोमुञ्चत मंहसः स्वाहा ॥

८ । ॐ घृतहृदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेनदध्ना ।
एतात्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गेलोके मधुमत् पिन्वमाना ।
उपत्वातिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः स्वाहा । इदं ब्रह्मोदनाय ।
इदन्नमम । ॥ अथर्व० ४/३४/ ६५ ॥

९ । ॐ आमनीषामन्तरिक्षस्य नृभ्यः स्रुचेवघृतं जुहवामविद्मना ।
तरणित्वांयेपितुरस्य सश्चिरऋभवोवाजमरूहन्दिवोरजः स्वाहाः॥
ऋ० १/११/०६॥

१० । ॐ त्रयम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् ।
उर्वारूकमिव बन्दनां मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ।
त्रयम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् ।
उर्वारूकमिव वन्दनादितोमुक्षीय मामुतः स्वाहा ।
इदं मोक्षेश्वराय । इदन्नमम ॥ य० ३/६० ॥

॥ इति सामदेव दर्पणस्य यज्ञेश्वर पूजा पद्धति ॥

१८ । अष्टादशः दर्पणः ।। भूत यज्ञः

निम्न ११ मन्त्रों से प्रति दिन चूल्हा के अग्नि में आहुति देना चाहिए। व्यवस्था के अनुसार शुद्ध घृत मिश्रित अन्न को ही देना चाहिए। जिस अग्नि देवता से भोजन बनाया है सो उस अग्नि को देकर ही सभी को खाना कर्त्तव्य । अग्नि को बिना दिए हुए भोजन करना पाप का भागी बनता है।

। १ । ॐ पूष्णे स्वाहा ।२। ॐ बृहस्पतये स्वाहा । ३। ॐ पवित्रे स्वाहा ।४। ॐ अग्नये स्वाहा । ५ । ॐ सोमाय स्वाहा । ६ । ॐ विश्वेभ्योदेवेभ्यो स्वाहा । ७ । ॐ द्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा ।८। ॐ प्रायश्चित्यै स्वाहा । ९ । ॐ भेषजाय स्वाहा । १० । ॐ भूवनपतये स्वाहा । ११ । ॐ प्रजापतये स्वाहा ॥

यजु० २२/२०(१), य० २२/६.२,३,४,५), य० ३६/१३(६.७), य० १२(८,९) य० १८/२८(१०), य० ११/६६(११)

१९ । एकोविंशति दर्पणः ।। पूर्णिमा की यज्ञाहुति ॥

१ । ॐ पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय ।
तस्या देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषामदेम ॥

२ । ॐ वृषभं वाजिनंवयं पौर्णमासं यजामहे ।
सनो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ।

३ । ॐ प्रजापतेन त्वदेतान्यन्यो विश्वारूपाणि परिभूर्जजान ।
यत् कामास्ते जुहमस्तन्नो अस्तुवयं स्यामपतयो रयीणाम् ॥

४। ॐ पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामति शर्वरेषु।
ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमीते नाके सुकृतः प्रविष्ठः॥
अथ० ७/८०/१-४॥

॥२०॥ विंशति दर्पण ॥ अमावस्या की आहुति मन्त्र॥

१। ॐ यत्ते देवा अकृण्वन्भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा॥
तेनानो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम्॥
२। ॐ अहमेवास्म्यमावास्याइ् मामा बसन्ति सुकृतोमयीमे।
मयि देवा उभये साध्याश्चेन्द्रज्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे॥
३। ॐ आगन् रात्री संगमनी वसूनामूर्जंपुष्टं वस्वावेशयन्ती।
अमावास्यायैहविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न आगन्॥
४। ॐ अमावास्येन त्वदेतान्यन्यो विश्वारूपाणि परिभूर्जजान।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्यामपतयो रयीणाम॥
॥ अ० ७/७९/१-४॥

॥ अथ षोडस संस्कार प्रारभ्यते॥

अब हम षोडश संस्कार का प्रारम्भ करते हैं। षोड़ संस्कार अर्थ १६ संस्कारों का वर्णन है जो मानव जीवन के निर्माण के लिए महत्व पूर्ण हैं। संस्कार शब्द का सामान्य अर्थ है अच्छे या सम्यक प्रकार से करना। विगड़ा हुआ को सुव्यवस्थित के रूप में संस्कार कहते हैं। संस्कार से सुन्दरता, श्री वृद्धि, मूल्यवान, स्थायीत्व, लोक प्रियता इत्यादि निरन्तर बढ़ती रहती है। जिस प्रकार मिट्टी को हम साधारण-तया मूल्य नहीं देते। जब मिट्टी के ऊपर श्रम करके हाड़ी, पतिला,

खिलौना, मूर्ति, वर्तन इत्यादि बनाते हैं तब उसकी आदर, श्रीवृद्धि, मूल्य, स्थायीत्व, यत्न, माया, ममता, स्नेह इत्यादि सभी कुछ बढ़ता रहता है ठीक उसी प्रकार ही मनुष्य जीवन भी व्यर्थ जीवन को संस्कार से सार्थक बना देता है। केवल संस्कार की महिमा है। केवल मनुष्य ही नहीं प्राणी मात्र ही जब संस्कार पाता है तब कुत्ता भी सेना गोयेन्द्रा का कार्य करता है। शेर, भालु, हाथी, बानर, पक्षी आदि सभी प्राणी को सुव्यवस्था से नित्य नैमित्यिक शिक्षा देने से उनके जातीय स्वभाव में परिवर्तन होने लग जाता है। अब विचारवान मनुष्यों के लिए तो और कहना ही क्या ? अतः प्रत्येक मनुष्यों को अवश्य ही संस्कार के प्रति ध्यान रखना अतः प्रत्येक मनुष्यों को अवश्य ही संस्कार के प्रति ध्यान रखना चाहिए। जिसे हम निम्न प्रकार वर्णन कर रहे हैं।

२१। एकविंशति दर्पण। (१ गर्भाधान संस्कार)

गर्भाधान संस्कार की कुछ आवश्यक बातें जाननी चाहिए। गर्भाधान संस्कार पहला है और १६ वाँ अन्तेष्ठी संस्कार है। बहुत बड़ा समय का व्यवधान देखने को मिल रहा है किन्तु जब हम विज्ञान के रूप में सोचते है तब गर्भाधान संस्कार का सर्व निकट अर्थात एक मूहुर्त मात्र का भी दूरत्व नहीं है। क्योंकि मृत्यु के पहले से ही किस योनी में जन्म लेगा उस उसकी सुव्यवस्था ईश्वर ने कर दी है। उसमें जाती आयु और भोग व्यवस्था के निर्णय को करके ही मृत्यु होती है। तत्पश्चात् तुरन्त गर्भाधान में आ जाती है। अब ईश्वर की सुव्यवस्था में मनुष्यों को कर्म करणे में स्वतंत्रता दिया है। इससे अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मों के महत्व को लेकर प्राणी मात्र ही भोग व्यवस्था प्राप्त करता है।

गर्भाधान शब्द का सामान्य अर्थ है गर्भ + आधान = गर्भाधान। गर्भ शब्द "गर्" गृनिगलने धातु से बनता है। निगल माने अन्दर ले

जाना या चला जाना। "भ" माने "डुभृञ् धारण पोषणयोः" धातु से बनता है। अर्थात् पुंग शक्ति या वीर्य को भीतर ले जाकर उसे धारण, पालन, पोषण करने से उसका नाम "गर्भ" कहते हैं। "आ" उपसर्ग है उसका अर्थ चारों तरफ से "धानि" कहते है पात्र को। जहाँ पर चारों तरफ से पुंग शक्ति को भीतर लेकर धारण होता है सो ऐसे पात्र को "आधान" कहते हैं। स्त्रिओं के गर्भाधान के लिए पहले पात्र शुद्धि का उपाय एक मात्र मासीक स्नान है। १५, १६, १७, १८ वर्षों तक मासिक धर्म से लगभग ५४ मासिक स्नान तक गर्भाशय अपरिपक्वावस्था में रहती है। उसमें कच्चे अपरिपक्व कमजोर योनि होने से सन्तान भी उपयुक्त नहीं होता। इसलिए १६ वर्ष के लड़की और २० वर्ष के लड़के का मिलन युक्त सन्तान कभी सर्वोत्तम नहीं होता। इसे निम्न विवाह कहते हैं। इस उम्र में वीर्य को तथा योनी को क्षत नहीं करना चाहिए। इससे पहले ही यदि धातु या रेत का विकार होतो नपुंसकता और जीवन बरबाद, निकम्मा हो जाता है सन्तानें भी अल्पायु, रूग्न, कमजोर, स्मृति शक्तिहीन वंश का पतन करने वाली पराम्परा की पैदा होती हैं।

अल्पायु में वीर्य पतन होने से या बार-बार संगम से तथा स्वप्नादि से तरल-दुर्गन्धयुक्त दोषित धातु होने लग जाता है। उसमें यदि सन्तान हो भी जाती तो रूग्न, चिड-चिडापन, क्रोधी, दुर्बल, कम बुद्धि, कुसंस्कारी होती है। वही सन्तानों से व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और धर्म का पतन अवस्था को लाता है। उसके कारण ही वंश पराम्परा में अवनति होती है।

पुरुष और स्त्री को गर्भाधान संस्कार तभी करना चाहिए जब २५ वर्ष से ज्यादा पुरुष का उम्र हो और स्त्री का २० वर्ष से ऊपर हो। अन्ततः ५०, ६० मासिक स्नान जब तक उत्तीर्ण न हो तब तक

गर्भाधान संस्कार करना ही नहीं चाहिए। वायु, पित्त, कफ, प्रकृति के विकारों से शरीर में यदि विरूद्ध धातुओं के परमाणु हो तो गर्भ नहीं ठहरता। समान प्रकृति, समान गुण, कर्म, स्वभाव, शक्ति, विद्या, वंश आदि का ध्यान रखना चाहिए। गोष्ठी, गोत्र, दुरत्व, अपरिचय जितना ज्यादा हो सो वही उत्तम सन्तान के ज्यादा निर्भर योग्य होता है। परिवार में भी शान्ति शृंखला, सुव्यवस्था, प्रेम, स्थिरता, नम्रता आदि बनी रहती है। ४० वर्ष तक शरीर के धातुओं में दीर्घायुत्व, शक्ति, निर्माण शक्ति और वृद्धि शक्ति रहती है। उसके बाद ही शरीर के हर प्रकार के शक्ति क्षीण होने लग जाती है। पुरुष और स्त्री के आपस में पूर्व दोष जानकारी होने से प्रस्पर गहरी प्रेम-स्नेह, माया-ममता, श्रद्धा-भक्ति नहीं होती। उसके कारण झगड़ा-अशान्ति अमान्यता से कुसन्तान पैदा होती है।

प्राकृतिक आहार, कच्चे, फल, मूल, कन्द, ओषधि, वनस्पति, खीरा, टमाटर, स्यालाद, अंकुरित दाना आदि के सेवन से जीवनी शक्ति बनी रहती है। बीर्य और रेत शक्ति में पवित्रता, सुगन्ध, निरोगता, धारणीय शक्ति, शांति भाव बनी रहती है। तली हुई, भूजि हुई, वासी, पचा पदार्थ या मछली, मांस, अण्डे, मसाले इत्यादि के सेवन से शरीर में उत्तेजना सुखापन, चर्वी, धातु विकार गैस, अम्ल आदि का सर्वदा विकार बना रहता है। उस से पवित्र निरोग, सुन्दर सन्तानों में बाधा होती है। ईश्वर के नाम से पूजा पाठ करने वालों के एक पवित्र आहार का परिचय मिलता है। जो भगवान के प्रसाद रूप में रखा करते हैं वहाँ पर फल, मूल, कन्द, ओषधि, वनस्पति, निरामिश आहार के द्रव्यों के प्रयोग इस लिए करते हैं कि वही आहार मुनि, ऋषि, देवताओं का आहार था। वहाँ पर मिर्च, मसाले, मादक, द्रव्य आमिश आहार्य पदार्थ नहीं रखते।

भगवान राम, कृष्ण, विश्वामित्र, गौतम, दयानन्द, शंकराचार्य इत्यादि सभी के वेदानुकुल एक ही अनुशासन युक्त भोजन व्यवस्था थी। अतः साधारण दृष्टान्त से विशेष प्रकार चिन्तन-मनन करना चाहिए जिसमें सर्वोत्तम पारिवारिक निर्माण उत्तम संगठन से ही हो।

गर्भाधान के लिए सर्वदा उत्तम आहार से उत्तम वीर्य और रेत धातुओं के निर्माण करें। उसके स्थायित्व को लेकर ही इस कार्य में अग्रसर होना चाहिए। मासीक स्नान के दिन से १६ रात तक सन्तान उत्पन्न होने का उपयुक्त समय रहता है। उसमें पहले ४ रात तक मासीक रज के दोषित श्रोत रहने से अपवित्र अशुचि रहती है। पुत्र प्राप्ति के लिए गर्भाधान ६, ८, १०, १२, १४, १६ वाँ रात्रि जोड़ में करना चाहिए। और विजोड़ ५, ७, ६, ११, १३ १५ वाँ रात्री में पुत्री प्राप्ति के लिए सहवास करना चाहिए। उसमें पूर्णिमा, अमावस्या, चतुर्दशी, अष्टमी आदि तिथिओं में कभी भी गर्भाधान संस्कार नहीं करना चाहिए। नौकरी-सर्विस करने वाले या दूर में रहने वाले स्वामी-स्त्री इन सब नियमों का पालन करने में गड़बड़ा जाते हैं। बहुत दिनों के बाद घर में आते ही जिस प्रकार भूखा आदमी भूख के मारे जब कभी भी जो कुछ मिल जाय तो उसके पीछे उछल पड़ता है, उसी प्रकार अचानक जल्दीबाजी से सर्दी जुखाम अस्वस्थ अवस्था में भी अपना अधिकार का फैदा उठाने में सहवासादि कर बैठता है। विना नियम और तिथि आदि के पालन उत्तम के बजाय अधम सन्तानें पैदा होती हैं। इससे प्रायः शिघ्रता करके विधि व्यवस्था अचानक ही सहवास करने से उत्तम सन्तान नहीं होता। नियम शृंखला युक्त परिवारों में ऐसा नहीं होता।

गर्भाधान के दिन स्त्री को अल्पाहार, फल, मूल, कन्द, दुग्ध, सुगंध युक्त पवित्र आहार करना चाहिए। पुरुष चाहे उत्तम गरीष्ठ दुग्ध-घृत

आदि आहार पूर्ण मात्रा में भी कर लेवे लेकिन उभय मछली, माँस, दुर्गन्ध युक्त अपवित्र अम्ल कटु लवण मसाले आदि का प्रयोग न करें। उससे धातु के अन्दर विकार पैदा होता है। सर्वोत्तम सन्तान पाने के लिए मनुष्यों को कृषकों के सम व्यवहार करना चाहिए। कृषकों की मूल सम्पदा है एक मात्र पवित्र सन्तान। उत्तम सन्तान रूप फसल ही व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा धर्म के मेरूदण्ड हैं। इसके विना शान्त हो नहीं सकता। जिस प्रकार कृषक लोग पहले क्षेत्र शुद्धि करने के लिए नाना उपाय लांगल, मई निरानि से भूमि को शोधन करते हैं। शुद्ध, जल, वायु, खाद, प्रकाश इत्यादि के सेवन कराकर सुन्दर क्षेत्र तैयार करके बड़े ही श्रद्धा-भक्ति प्रेम के साथ बीज बोते हैं।

यहाँ पर महत्व पूर्ण बाते ये ही है कि बोया हुआ या लगाया हुआ फसल के क्षेत्र में दोबारा हल, नंगल, ट्रेकटर आदि से नहीं जोतते। जब तक बोया हुआ फसल उत्तम आदर यत्न के साथ परिपक्व नहीं होता। पके हुए फसल कट कर भी २. ४, ६ महिना तक जमीन को विराम देना चाहिए। बार-बार लगातार जमीन में फसल बोते रहना ही जमीन को कमजोर करना होता है। तब कृत्रिम उपाय से भूमि ही नष्ट हो जाता है। फसलों के लिए उत्तम दीर्घ काल विराम से ही नई शक्ति पैदा होती है। ठीक उसी प्रकार ही मनुष्यों को चाहिए कि स्त्री जाति है खेत। उसे उत्तम संस्कार आहार व्यवहार, श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, विद्या, बुद्धि आदि सभी तरफ से ध्यान रखना चाहिए। उत्तम फसल रूपी भावी वंश के निर्माण के लिए स्त्री जाति को बड़े ही आदर, सत्कार, प्रेम, शिक्षा, योग तपस्यादि से निरन्तर बढ़ाना चाहिए। बञ्जर भूमि में बिना संस्कार से उत्तम फसल नहीं होती। फसल के लिए उत्तम योग, तप, साधना, विद्या, बुद्धि, ज्ञान, विवेक आदि से सुसंस्कृत करना ही मनुष्यों के अत्या-

वश्यक कार्य है। पशु के सम आचरण करने से वंश परम्परा भी राक्षस पीशाच, निशाचरों के समान व्यवहार करने लग जाता है।

स्त्री के गर्भावस्था में पुरुष जब स्त्री के साथ मैथुन करता है तब गर्भ में रहने वाला सन्तान के अन्दर काम वृत्ति के झटका लगता है। उसके कारण ही अतीव सूक्ष्मता से लुप्त वृत्ति भावनामय तनाव बना रहता है। छोटे-छोटे कच्ची उमर के बच्चे जब सोते हैं तब उसके मूत्र इन्द्रिओं में तनाव पैदा हो जाता है। बच्चों में बीर्य शक्ति के आक्रमण से यह तनाव नहीं है लेकिन पिता-माता के दुर्व्यहार से ही लुप्त तनाव का यह संस्कार है। यही सूक्ष्म रूप से बच्चों में कुकर्म के संस्कार ज्यादा होना ही पितृ-मातृ कूसंस्कारों के परिणाम हैं। लड़के आदि कच्चे उमर में ही अपने वीर्य शक्ति को नष्ट करके अकाल में ही नपुंसकता को प्राप्त कर बैठता है।

बार-बार गर्भ होना या गिराना अथवा ज्यादा मैथुन करने से योनी की संकोच-विकास भाव नष्ट होते ही ढ़ीलेपन हो जाती है और योनी की विकृति तथा प्रदर आदि रोग अन्दर के जड़ायु बाहर की ओर आने से ही नाना रोग पैदा होते हैं। बाद में स्त्री-पुरुष के उभय के रोग में उभय के प्रति अश्रद्धा, मनमानी, पुनर्विंवाह, परित्याग इत्यादि के कूचक्र में घुमता हुआ परिवार तथा वंश का नाश कर बैठता है। ये ही मानव समाज के पतनों के महत्व पूर्ण अध्याय होने से १६ संस्कारी को अवश्य ही प्रत्येक को जानना अत्यावश्यक है। अल्पज्ञानि पण्डितों ने केवल विवाह के दिन वासी विवाह कहकर एक बार ही गर्भाधान संस्कार कर देते हैं और आगे में वहीं चलाते हैं। अतः प्रत्येक सन्तान के उपलक्ष में यह १६ संस्कारों के ज्ञान. अवश्य ही होना चाहिए।

अब यहाँ से आगे चलकर जितने प्रकार के संस्कार और नाना प्रकार के पवित्र कर्मानुष्ठान हैं उसमें सर्वत्र ही १७ वाँ दर्पण के सभी कार्य करके गायत्री से पूर्व सभी संस्कारों के विशेष कार्य को करना होगा । अब स्वामी-स्त्री के विशेष घृत सामग्री की आहुति ।

गर्भाधान के विशेष यज्ञाहुति मन्त्र यथा

१ । ओ३म् विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातुते स्वाहा ॥

२ । ओ३म् गर्भं धेही सिनीबाली गर्भं धेहि सरस्वती ।
गर्भन्ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्त्रजौ स्वाहा ॥

३ । ओ३म हिरण्ययी अरणीयं निर्मन्थतो अश्विना ।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे स्वाहा ॥

ऋ० १०/१८४/१-३ ॥

४ । ओ३म रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्राविशदिन्द्रियम् । गर्भो-जरायुणावृतऽउल्वं जहाति जन्मना । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानंशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु स्वाहा ॥

य० १९/७६ ॥

५ । ओ३म पर्वताद् दिवो योनेरङ्गादङ्गात् समाभृतम् ।
शेपो गर्भस्यरेतोधाः सरौपर्णमिवा दधत् स्वाहा ॥

६ । ओ३म् यथेयं पृथिवी मह्रीभूतानां गर्भमादधे ।
एवं दधामिते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे स्वाहा ॥

७। ॐ गर्भते मित्रा वरूणौ गर्भदेवो बृहस्पतिः।
गर्भत ईन्द्रश्चाग्निश्च गर्भ धाता दधातु तेस्वाहा॥

८। ओ३म यद्वेद राजावरूणो यद्वादेवी सरस्वती।
यदिन्द्रो वृत्रहावेद तद् गर्भ करणम्पिव स्वाहा॥

९। ॐ प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्यां गवीन्योः।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा॥

अथ० ५/२५/१,२,४,६,१३॥

१० ॐ यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवाते घ्रियतां गर्भो अनुसूतु सवितवे स्वाहा॥

११। ॐ यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन्।
एवाते घ्रियतां गर्भो अनुसूतु सवितवे स्वाहा।

१२।ॐ यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीम्॥
एवाते घ्रीयतां गर्भो अनु सूतु सवितवे स्वाहा॥

१३। ओ३म यथेतं पृथिवीमही दाधार विष्ठितं जगत्।
एवाते घ्रियतां गर्भो अनु सूतु सवितवेस्वाहा॥

१४। ओ३म गर्भोऽअस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भोऽअपामसिस्वाहा॥

१५। तमिद् गर्भ प्रथमं दध्रऽआपो यत्रदेवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितंयस्मिन्विश्वानि भुवनानी तस्थुः॥

अथर्व ६/१७/१-४॥ यजु० १२/३७॥ यजु० १७/३०॥

इसके पश्चात् स्वामी-स्त्री उभय पुर्वाभिमुख हाथ जोड़ खड़े हो जावें। पुरोहित निम्न मन्त्र को यजमान से बोलवावें। मन्त्र को बोलते हुए यज्ञ कुण्ड के चारों ओर तीन बार परिक्रमा करें। पुरोहित लम्बे चम्मच या लाठी से अग्नि को बार-बार ताड़ना करें जिससे अग्नि का चमकीलापन ज्य दा रूप से दिखाई देवें। उस उज्वल अग्नि को यजमान उभय ही देखते हुए और मन्त्र बोलते हुए परिक्रमा करें। मन में भी अग्नि के सम उज्वल प्रकाश युक्त ज्योतिर्मय भावधारा का निर्माण करें। जिन श्रेष्ठ भावनाओं में ओत-प्रोत होकर दीर्घायु सन्तान प्राप्ति की कामना करें।

<u>परिक्रमा मन्त्र यथा—</u>

१। आदित्यं गर्भं पयसा समङधि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम
परिवृङ् धि हरसामाभि मँस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमाणः ॥

॥ यजु० १३/४१ ॥

अब पूर्ववत् आसन में बैठकर निम्न एक ही मन्त्र में तीन बार उभय ही आहुति देवें। मन में ऋषि-मुनि जैसे श्रेष्ठ सन्तान प्राप्ति की कामना रहे। इस प्रकार उत्तम भावना से ही सन्तान के लिए कर्म हो विषय, भोग वासना के लिए ही नहीं।

१। अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टऽऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्ति पावा।
सनः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्योः हव्यं सदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा।

यजु ४/५ ॥

अब तीन बार गायत्री मंत्र के आहुति देकर निम्न मन्त्र में *प्राय-श्चित्याहुति* देवें। घृत, मधु, मिश्रित, मिष्टान्न आदि के आहुति देवें।

१। स इत् तत् स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमंगलम्।
प्रायश्चित्तिं यो अध्येति येन जायानरिष्यति स्वाहा॥

अथर्व० १४/१/३०

अब १७ वाँ दर्पण के अनुसार प्रायश्चित्याहुति, पूर्णाहुति, प्रार्थना, दक्षिणा शान्तिपाठादि और समय के अनुसार उपदेश भक्ति, कीर्त्तनादि करें। गर्भाधान संस्कार के यज्ञादि करके उस दिन गभीर रात को बड़े श्रद्धा, भक्ति; प्रेम, भगवत भाव से परिपूर्ण होकर स्वामी-स्त्री उभय ही एकत्र एकमना सम कामना वृत्ति से सन्तान के उपलक्ष में ही सहवास करें। पुरुष-स्त्री जब संयम से समय बिताते हैं तब पुरुष के वीर्य धन-परिपक्व अमृत तुल्य होता है। एक बार सहवास के पश्चात ही दोबारा सहवास करने से पहले बार के अमृत वीर्य पात्र में पूज रक्त सम गरल विषाक्त व्यवहार होता है। अज्ञानि मूर्ख कामुक लोग असंयमता से ही बार-बार सहवास करने से नपुंसकता को प्राप्त होता है। एक बार ही करे। बार-बार न करें; उसके पश्चात् ईश्वर के स्तुति प्रार्थना करके थोड़े देर के बाद शरीर के प्रकृति अनुसार चाहे स्नान करें। यदि स्नानादि न हो सके तब अवश्य ही गीले ठण्डे कपड़े से शरीर पोछे और हाथ, पैरादि सभी अंगों को धोकर शान्त, निर्मल पवित्र भावना से पृथक बिस्तरे में सो जावें। एक ही विस्तरे में सोने से मजाक मजाक करके भी व्यर्थ शरीर के शक्ति नष्ट कर बैठता है। असंयमी जीवन बन जाता है। परस्पर राग-द्वेष की भाव पैदा होती है। व्यर्थ बातें तथा आचरणों से एक दूसरे का दोष दिखाने लग जाता है। इन बातों को स्वामी-स्त्री बनने से पहले ही उभय को जानकारी करना चाहिए। अन्यथा मूर्खता वंश एक दूसरे की अज्ञानता से परस्पर सन्देह कर बैठता है और अपनापन छोड़कर अन्यत्र कहीं प्रेम-प्रीति करने लग जाता है। तब आदर्श गृहस्थाश्रम विघ्न का निशाना बनने लग जाता है। अतः स्वामी-स्त्री उभय का व्यवहार परस्पर खुले दिल का होना चाहिए। यदि संयम और ज्ञान-विवेक पूर्ण जीवन हो तो देश,

काल, पात्र को देखते हुए अपने सुविधा के अनुसार एक ही स्थान पर भी सोना पड़ता है। अतः संयम ही जीवन है। इन बातों के विशेष ध्यान रखना चाहिए।

संयम से धातु परिपक्व होता है। व्यर्थ काज-कर्मादि से अर्थात बिना फसल के उपलक्ष में सन्भोग करना ही कूकर्म है। कृषक लोग व्यर्थ परिश्रम से बीज नष्ट नहीं करते। बीज बोने से पहले धूप में सुखाते हैं अर्थात् योग-साधना तपादि से शरीर के धातु रूप बीज को भी तपोमय होना चाहिए। सन्तान जब तक मातृ दुग्धादि छोड़ अन्न का प्रारम्भ न करे तब तक गर्भाधान संस्कार करना नहीं चाहिए। संसार के कोई भी प्राणी जो मनुष्य योनी से भिन्न श्रेणी के हो सो उनमें भी बिना बच्चे के उपलक्ष से सम्भोग नहीं करता। यह एक उज्वल उदाहरण है। यदि पशु आदि प्राणी भी इतना संयम से वर्ताव करें तो मनुष्यों को और भी ज्यादा नियम-शृंखला सुव्यवस्था, साधना, तप, शुभेच्छादि गुण, कर्म, स्वभाव अवश्य ही होना चाहिए। यह आचरण पशुओं के लिए नहीं है। मनुष्य जन्म दुर्लभ होने से ही सभी को सुव्यवस्था के अन्दर रहना ही श्रेय है। तभी जाकर मनुष्य जन्म सार्थक होता है। अन्यथा पशुओं से भी ज्यादा निम्न वृत्ति के कर्म कराना इसी जीवन में ही मनुष्य जन्म के गुण, कर्म स्वभाव छुट जाता है। यह आचरण मनुष्यों के कल्याण के लिए नहीं है।

॥ इति गर्भाधान संस्कार ॥

२२। द्वात्रिंशति दर्पणः ॥ २ पुंसवन संस्कार ॥

अब गर्भधान संस्कार के बाद पुंसवन संस्कार का वर्णन करते हैं। पुंसवन का अर्थ है पुं। सवन - पुंसवन अर्थात् पुं कहते हैं पुरुष के

वीर्य को "सवन,, कहते हैं प्रादुर्भाव या उत्पत्ति होना। गर्भाधान के ३ महिना के अन्दर पुंसवन संस्कार करना चाहिए। पुंसवन संस्कार की साधारण पहचान यह है कि-गर्भधान के पश्चात जब द्वितीय महिना में मासीक स्नान नही हुआ तब समझना चाहिए कि मासिक स्नान का अवरोध ही गर्भधारण हो गया है। गर्भ धारण न होने से दोबारा मासिक धर्म होने लग जाता है। अतः जब पूर्णता से निश्चत हो जाता है कि सन्तान गर्भ में स्थित हुआ है तभी से ही पुंसवन संस्कार करना चाहिए। अतः तृतीय महिना के अन्दर पुंसवन संस्कार करना चाहिए। कृषकों के सम फसल की उत्तमता के लिए ही उभय को सर्वदा ध्यान रखना चाहिए। कभी भी स्वामीस्त्रीके संयोग वृति नहीं होनी चाहिए। संस्कार के दिन धार्य करें।

१७ वां दर्पण के सभी कार्य करके गायत्री मंत्राहुति से पूर्व उत्तम सन्तान की सुरक्षा और श्रेयता के लिए शुभेच्छा के साथ निम्नसंत्रों से घृत-सामग्री आदि के आहुति प्रदान करें।

ॐ यथा वातः पुष्करिणीं समिंगयति सर्वतः।
एवाते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः स्वाहा॥
ॐ यथा वातो यथावनं यथा समुद्र एजति।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा स्वाहा॥
ॐ दश मासाञ्जशयानः कुमारो अधिमातरि।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवो जीवन्त्या अधिस्वाहा॥
एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। यथायं वायुरेजति यथा समुद्रऽएजति। एवायं दशमास्योऽअस्रज्जरायुणा सहस्वाहा॥

ऋ० ५/७८/७,८,९॥ यजु० ८/२८॥

ॐ यस्यैते यज्ञियो गर्भोयस्यै योनिर्हिरण्ययी ।
अङ्गान्यहुता यस्य तं मात्रा समजीगमँस्वाहा ॥
ॐ आते योनिंगर्भएतु पुमान् बाण इवेपुधिम् ।
आवीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः स्वाहा ॥
ॐ हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
॥ यजु० ८ / २६ ॥ अथर्व० ३/२३/२॥ ॥ यजु० १३/४ ॥

इसके वाद सत्रवां दर्पण के गायत्रीमंत्र में तीनवार आहुती देकर सभी कार्य पूर्ववत पूर्ण करें ।

॥ इति पुंसवन संस्कार ॥

२३ ॥ द्वात्रिंश दर्पणः ॥३ सीमन्तोन्नयन ॥

अब पुंसवन के वाद सीमन्तोन्नयन संस्कार का वर्णन करते हैं ५।७ महिना के अन्दर सीमन्तोन्नयन संस्कार करणा चाहिए। ग्राम्य कू संस्कार ब्राह्मणों के ढिलाई से ही हुआ है। साधारण जनताओं के संस्कारों के बारे में मालुम ही नहीं है परन्तु कुछ लोकाचार-देशाचार के छाप पड़ा हुआ होने से कुछ ना कुछ कर ही लेते हैं किन्तु उसमें कोई शास्त्र बिधिका नियम नहीं है लेकिन उसे संस्कार कह सकते हैं। सीमन्तोन्नयन संस्कार का ही रूढिवादी कूसंस्कार स्वाद भक्षण का रूप चला है। गाँव में बुढ़ा-बुढ़ी आदि के शिक्षा में कहते हैं कि-पेट में सन्तान है। उसे जो कुछ चाहे बासी,पचा, चट-पटा,तली, भूजी, रूखे लंका, ज्यादा मसाले, आचार आदि का सेवन कराते रहो । कहते हैं कि उसे स्वाद की पूर्ति के लिए जो कुछ चाहे उसके मन को दुखाना नहीं

चाहिए। इस प्रकार अवस्था में पुरानी वृत्ति के लोग जोर जुलुम से भी रूढिवाद में फंसा कर पेट खराब करवाते हैं।

सीमन्तौन्नयन संस्कार का शब्दार्थ विच्छेद जैसे सीमा + अन्त + उत् + नयन = सीमन्तोन्नयन अर्थात् सीमा कहते हैं हद्-विस्तार या परिधि के माप को। गर्भ में कितने विस्तृत सन्तान होगी सो उसका अन्त स्थिति को सीमन्त कहते हैं। 'उत्' कहते हैं उन्नयति के दिशा को। नयन कहते हैं ले जाना अर्थात् गर्भाशय में सीमावद्ध परिमाण से निर्मित निरन्तर आगे की ओर वढ़ता हुआ। पंच कर्म इन्द्रिय-ज्ञान, इन्द्रिय-मन तथा अन्य सभी शारीरिक विकास होने से सन्तान के लिए नाना प्रकार के टानिक विटामिन की आवश्यकता होती है। इस अवसर पर माँ को सर्वदा पुष्टिकारक सुपाच्य भोजन पान करना चाहिए अन्यथा माँ का शरीर दुर्बल हो जाने से सन्तान के उपर दुष्प्रभाव पड़ता है। सन्तान के तीव्र विकास के कारण माँ का शरीर अभावग्रस्त रहने से स्वाद, लोभ कामना, विलासिता आदि की तीव्र भूख होने से सीमन्तोन्नयन के स्थान पर स्वाद भक्षण कह देते हैं। इसलिए लोभ, लालच, स्वाद की भुख मिटाने के लिए चटपटा, खट्टे, अचार, वासी, पचा इत्यादि का सेवन अच्छा भी लगता है और सर्वदा करवाते भी हैं। यह माँ के या सन्तान के हित के लिए नहीं होता।

अतः सुगन्ध, पुष्टि कारक, पवित्र आहार होना चाहिए। मछली मांस, अण्डे, मसाले कोई भी मादक द्रव्य, नशेदार वस्तुएँ प्रयोग करना एकदम मना है। उससे सन्तान बिगड़ती है। खट्टे, बासी, पचा, दुर्गन्ध युक्त, तली, भूजी, रूखा भोजन नहीं होना चाहिए। फल, मूल, कन्द, कच्चे ससलाद आदि प्राकृतिक वस्तुओं के ज्यादा प्रयोग करना चाहिए। अंकुरित दाना भी शरीर निर्माण के लिए महत्वपूर्ण उपादेय आहार है।

अब १७वाँ दर्पण के सभी कार्य समापन करके अन्न-फल, मूल-कन्द, मिष्ट-खीर, हलुवा-मेवा आदि पुष्ट कारक पदार्थों के आहुति भी निम्न मन्त्र से देते रहे।

ॐ धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः स्वाहा ॥
ॐ धाता विश्वावार्यां दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे ।
तस्मै देवा अमृतं संव्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः सजोषाः स्वाहा ॥
ॐ धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिः निधिपतिर्नोऽग्निः ॥
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु स्वाहा ॥
॥ अथर्व० ७/१७/२-४ ॥

ॐ राकामहं सुहवां सुष्टुतीहुवे शृणोतुनः सुभगा बोधतुत्मना ।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यं स्वाहा ॥
ॐ यास्ते राके सुमतयः सुपेशसोयाभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्त्र पोषं सुभगे रराणा स्वाहा ॥
ॐ सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवी दिदिड्ढिनः स्वाहा ॥
ॐ प्रजापतेन त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिताबभूव ।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नोअस्तु वयंस्याम पतयो रयीणाम् स्वाहा ॥
॥ ऋ० २/३२/४-६ ॥ ऋ० १०/१२१/१०॥

ॐ स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि स्वाहा ॥ ऋ० ५/५१/१५॥

इसके बाद १७वाँ दर्पण के गायत्री के तीन आहुति और परवर्ति समस्त कार्य पूर्ववत् करके अन्त में सार्वजनिक रूप में निम्न वाक्य बोल कर *गर्भिनी को आशीर्वाद प्रदान करे।*

ॐ सा वीरा वीर प्रसुता कल्याणी वाहकी दीर्घायु षीः सौभाग्यवती भवसी। ॐ स्वस्ति-स्वस्ति-स्वस्तिः।

इस प्रकार आशीर्वाद के बाद शान्ति मंत्रादि पाठ करके आनन्द उत्सव सम्मानादि करें गर्भिणी गुरूजनों से आशीर्वाद लेवें। गर्भवती को सर्वदा उत्साह, आनन्द, सन्तुष्ट रखना चाहिए। अच्छे-२ प्राकृतिक दृश्य को दिखाना चाहिए। गर्भिनी के साथ कभी भी झगड़ा, अशान्ति भय, चिन्ता आदि के दुर्व्यवहार न करें। स्वामी को सर्वदा अच्छे व्यवहार करना चाहिए। एकान्त में अच्छे वार्तालाप करें। स्त्री के बाल को खोलकर सुगन्धित तेल लगावे। हाथ, बाह, शरीर आदि में मालीश भी करें। कोई भी भय, लज्जा, शंका युक्त भाव न रखे। अपनी स्त्री से बराबरी की वर्ताव करें। सर्वदा अभय, साहस, माया, ममता, स्नेहयुक्त सौहार्यता का व्यवहार करें फिर से स्त्री का साहस, बल, उत्साह प्रसन्नता के कारण वही व्यवहार सन्तान के ऊपर अवश्य ही पड़ता है। नाना प्रकार के मानसिक अन्दरूणी चिन्तन तथा भय स्वभाव से ही इस अवस्था में पैदा होता है। इसलिए अपने स्वामी ही उसे हृदय के भावना को ध्यानकर अच्छे-२ संगत्, सुन्दर ग्रन्थों के अध्ययन, श्रवण करावे। वीर सन्तान, महान पुरुष, सन्तों, साधकों के गाथायें सुनावें। उसमें वीर श्रेष्ठ सन्तान पैदा होती है। झगड़ा, मार-पीट, लड़ाई, बाद-विवाद अपवित्र दृश्य आदि युक्त सीनेमा, नाटक, नावेल, गल्प-गाथाओं के कभी भी श्रवण, मनन, दर्शन न करें। उसमें सन्तान भी बिगड़ी हुई

संस्कार को होती है। माँ के मन, बुद्धि, आत्मा तथा इन्द्रियादि का जैसा प्रभाव पड़ता रहेगा उसी प्रकार वाइब्रेशन का प्रभाव साथ-२ सन्तान पर भी पड़ जाता है। इसलिए दुराचार, भ्रष्टाचार, भय, दुर्बलता, निष्ठुरता, निर्बुद्धिता आदि का भी परिचय देना नहीं चाहिए।

॥ इति सीमन्तोन्नयन संस्कार ॥

२४। चतुर्विंशति दर्पणः ॥ ४ जातकर्म ॥

अब जातकर्म संस्कार का वर्णन करते हैं। जात कहते हैं लिया हुआ जन्म का अवस्थान्तर होना अर्थात् गर्भाशय से बाहर आ जाना। सन्तान के प्रसव काल में माँ को पहले तीव्र दर्द होता है। सन्तान को बाहरी जलवायु, प्रकाश, आकाश आदि का अनुभव नहीं है। वह घोर आवद्ध, अन्धकार, काल कोठरी के अन्दर उल्टा, जरायु से जकड़ी हुई अवस्था से बाहर आ रहा है। अतः ऐसे स्थान में प्रसव होना चाहिए जहाँ पर एकदम खुली ठण्डी हवा न हो, कोई शोर-गुल, शब्द आदि न हो। प्रसव काल में कोई सीक आदि का शब्द न करे। लाइट का बन्द करना, तुरन्त जलना इत्यादि परिवर्तन न करें अर्थात जो सन्तान जन्म लिया है या ले रही है, उसे नई दुनिया का कुछ भी पता नहीं है। इस अवस्था में अचानक सन्तान के सामने जो कुछ भी है सो सभी कुछ नया है। प्रत्येक परिस्थिति को उसे अनुकूल वातावरण में सहन कराकर लाना होगा। अचानक कोई भी अवस्था या घटना से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक रोग उत्पन्न हो सकता है। यही से ही ६० प्रतिशत रोग, भय, मानस विकार आदि प्रारम्भ होते हैं। अज्ञानी, अशिक्षित, कुसंस्कारी लोग समाज के अन्दर इन बातों को अनुभव न होने से सन्तान के भविष्य को नष्ट कर डालते हैं। जिस माँ के शरीर

के लगातार गर्मी से सन्तान को कभी ठण्डा नहीं लगा था अब हठात बाहर के वायुमण्डल में आते ही उसे भीषण ठण्ड लगती है। यहाँ तक की हवा के असहन से कम्प होता है। यहीं से बात, वायु, सर्दी, ज्वर आदि के विकार उत्पन्न हो जाने से हाथ पैर आदि अंग खींचने लग जाता है। अज्ञानी मूर्ख लोग तुरन्त कहने लग जाते हैं कि कोई देवी, देवता, पिचास, शैतान, भूत, प्रेत आदि की कुदृष्टि पड़ी है। इसे ओझा वैद्य, फकीर आदि के पास ले जाओ। अचानक जोर का शब्द सुनते ही उसे कम्प, भय, मानस विकार उत्पन्न हो जाता है। तेज प्रकाश से दृष्टि शक्ति में गड़बड़ा जाती है। ९-१० महिनों से जो बच्चा बाहरी स्थूल खान-पान नहीं किया था केवल नाड़ी संयोग से माँ के शरीर के सूक्ष्म रूप में शक्ति पाता रहा अब पैदा होते ही अज्ञानी लोग तुरन्त गरीष्ठ घ, औषधि आदि प्रयोग कर-कर पाचन क्रिया को नष्ट कर देते हैं। उसके दुष्प्रभाव से वायु, पित्त, कफादि के विकार होने से दस्त, श्वाँस, खाँसी, दमा आदि रोग उत्पन्न हो जाता है। अतः अन्ततः १०, ११ दिन के पूर्व उसे बाहर के सभी वातावरण जल वायुमण्डल से विशेष सतर्क रखना चाहिए।

जन्म जात अवस्था से शरीर को शुद्ध करने के लिए अतीव कोमल रूई के सम वस्त्र का व्यवहार करें। उबला हुआ जल ईषद उष्ण रहते रोग नाशक सुगन्धित कपुर आदि प्रयोग करके उसे स्नान करावें। शरीर को चमड़े में लगने वाले वस्त्र से न पोंछे। ज्यादा पोछने के कारण चमड़े में रोग होने का डर है। माँ के दुग्ध को तुरन्त पान न करावें। माँ के स्तन को भी अच्छी प्रकार शुद्ध-इषद उष्ण जल से परिस्कार करके पहले दूध को निकाल देवें पश्चात बच्चे को दूध पिलाना चाहिए। माँ को अस्वस्थ रहने से उसका दूध एक दम न पिलाले। माँ के दूध को बन्द कराने से माँ का शरीर शीघ्र स्वस्थ होने लग जाता है। दूध शक्ति

का स्त्रोत है। इससे शक्ति को निकल जाने से शरीर हृष्ट-पुष्ट नहीं हो पाता। जरायु-योनी मार्ग आदि का संकोचन भी शीघ्रता से नहीं हो पाता। इसलिए ही प्रदर तथा जरायु आदि बाहर की ओर आने लग जाता है। अल्प उम्र में ही बुढ़िया होने लग जाती है। पहले जब बच्चे को दूध पीलावे तब माँ के स्तन के दुग्ध के सम मिष्ट स्वाद बना कर दूध पीलावे अर्थात् बहुत ही हल्का चीनी, गुड़ आदि प्रयोग करें जिसमें मिष्ट स्वाद का अनुभव न होने के बराबर हो। क्योंकि मिष्ट मात्र ही पेट को खराब करता है हड्डी को गला या जला देता है। दाँत को खोंख-ला, कमजोर तथा रोग उत्पन्न करता है। नाना प्रकार के कृमि किटाणु के द्वारा उदर रोग शुरू करता है। धातु में विकार पैदा करता है। रक्त में तेजाप तथा उसके कारण गैस विकार होने लग जाता है। बच्चों को मीठा स्वाद का नशा बनने से, मीठा के लिए हमेशा पागल रहता है। अतः दाँत, हड्डी और पेट के लिए चीनी, मीठा आदि महा शत्रु समझना चाहिए। इसलिए बहुत ही हल्की मात्रा में मीठा का प्रयोग अच्छा है।

सद्यजात शिशु के नाड़ी छेदन के लिए जो अस्त्र लेना है सो उसे पहले पानी में उबाल लेना चाहिए। अन्यथा नाना प्रकार के सेफटिक, टिट-नस, गलित पाकने का रोग आदि होने का डर रहता है। नाड़ी छेदन से पहले बान्ध लगाकर काटना चाहिए अन्यथा रक्त प्रवाह से बच्चे को कमजोरी होती है। प्रसूति के प्रसव वेदना होते ही "अपामार्ग" ओषधि के द्वारा झार-पोंछ कर जाना अतीव उत्तम है। अपामार्ग के झाड़ी को जब उठावे तब निम्न मन्त्र बोलकर शुद्ध पवित्रता से उठा ले आवे। उसे शुन्य में हो रखे।

अपामार्ग छेदन मन्त्र

औ३म् ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आरभा महे।

चक्रे सहस्रवीर्यां सर्वस्मा ओषधस्त्वा॥ अ० ४/१७/१॥

अब इस अपामार्ग को ऊपर के मन्त्र के बोलकर पुनः मूल से तोड़ डाले। उसके जड़ को गर्भाशय के मुँह नीचे के तरफ रखें और अपामार्ग के फूल-पत्ते के तरफ पकड़ कर गर्भीनी के सिर से लेकर योनी के तरफ झाड़ते रहे और झाड़ने वाले साधक प्रवृत्ति वाले हो।

गर्भीणी को झाड़ने का मन्त्र यथा—

ओ३म् अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी।
तेनते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर॥ ॥अथर्व० ४/१७/८॥

एक पात्र में कुछ पानीय जल रखकर निम्न मन्त्र से अपामार्ग के द्वारा झड़ना चाहिए। तीन बार झाड़कर मन्त्र बोलते हुए *गर्भीनी को उस जल को पिला देवें।*

ओ३म एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। यथायं वायु-रेजति यथा समुद्रऽएजति। एवायं दशमास्योऽअस्त्रज्जरायुणा सह॥
यजु० ८। २८॥

सन्तान प्रसव होते ही इषद् उष्ण सिद्ध जल में कोमल वस्त्र डुवा निचोड़ नाक, मुँह, आँखें, कान आदि अङ्ग प्रत्यङ्गों को शुद्ध-पवित्र करें। नाड़ी को ४, ६ अंगुल मूल से छोड़कर शुद्ध पवित्र धागा से बान्ध देकर उसके निम्न भाग से पवित्र सिद्ध अस्त्र से नाड़ी को काट डाले। सूत्र से बन्धे हुए नाड़ी में कोई रोग न रहे इस भावना से निम्न *मन्त्र बोलकर नाड़ी छेदन करें।*

ॐ विवस्वान्नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम्॥
अथर्व० ८/३/६१॥

नाड़ी छेदन करके शरीर को शुद्ध पवित्र सुगन्धादि से सेवाकर नये-नये

कोमल वस्त्रादि से अच्छादित करें। नाक, मुँह, आँख, छोडकर समस्त शरीर ढका रखना चाहिए। किसी भी प्रकार के कबच, ताबिज, कपड़े का पोटली आदि से झाड़-फूँक का साधन गले में न लटकावे। बच्चा अतीव कोमल हृदय का है। गले में कबच, ताबीच, जड़ी, बुटी पुटली आदि ढोल-खोल के सम बाधने से कोई फायदा नहीं है नुकसान ही नुकसान होता है। क्योंकि मुँह के लार से सभी गले का पोटला, ढोल, खोलादि धातुए बड़े ठण्ठे रहता है। स्वस्थ व्यक्ति भी यदि छोटासा गिला कपड़ा हृदय के ऊपर रखकर सो जावे तो स्वास, खासी, सर्दी, जुखाम, सिर, दर्द होने लग जाता है। अब सद्यजात छोटे बच्चे के हृदय में यदि थोड़ासा गिला तथा ठण्डे धातु आदि का प्रभाव रहे तो शरीर के लिए वहुत ही बुरा प्रभाव रहता है। बहुत सारे नये २ रोग इसी से पैदा होते हैं और अज्ञानी मूर्ख लोग नाना प्रकार के ओझा, फकीर, नाविरों, पीर-पयगम्बरों के पीछे लगकर और भी गले का बोझा बढ़ाते हैं। अन्त में बच्चे का भविष्य ही नष्ट कर देता है।

इसके बाद १७वाँ दर्पण के समस्त कार्य करके गायत्री से पूर्व निम्न मन्त्र से अपने सन्तान को स्त्री के गोद में उत्तर के तरफ सिर करके स्वामी देवे *और निम्न मन्त्र से घृताहुति करे।*

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पुष्णो हस्ताभ्यां प्रसूत आरभे स्वाहा॥ अथर्व० १९।५१।२॥

ओं अप्स्वग्ने सधिष्ठव सौषधीरनुरुध्यसे।
गर्भेसन् जायसे पुनः स्वाहा यजु० १२।३६॥

ओं आपो देवीः प्रतिगृभ्णीत भस्मैतत्स्योने कृणुध्वंसुरभाऽउ लोके। तस्मै नमन्तां जनयः सुपत्नीर्मातेव पुत्रं विभृताप्स्वेनत् स्वाहा॥ यु० १२। ३५॥

अब निम्न मन्त्र बोलकर पिता हाथ फैलाते हुए अपने बच्चे को गोद में लेवे। उसके बाद माँ भी अपने बच्चे को निम्न मन्त्र बोलकर दोबारा लेवें। इस प्रकार अतीव प्यार से हाथ बदला-बदली करते हुए सन्तान *को गोद में लेने का मन्त्र यथाः—*

ॐ आते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात्।

अग्ने त्वां कामया गिरा ।। ऋ० ८।११।७

अब उभय ही बड़े प्यार से बच्चे के तरफ दृष्टिपात करते हुए बच्चे के कान में धीरे से *"वेदोसीति"* शब्द सुनावे अर्थात तुम्हारा गुप्त नाम, ज्ञान; कर्म, उपासना के विषय वेद ज्ञान होवें। अब घृत में तीन गुणा ज्यादा मधु मिश्रित करके स्वर्ण या रौप्य सलाका से *मिश्रित मधुपर्क* को *बच्चे के जिह्वा में लेपन करावें* और निम्न मन्त्र बोलते रहें।

ॐ मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः।

माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ।। यजु० १३।२७ ।।

अब निम्न मन्त्र द्वारा सभी लोग दीर्घायु की कामना करते हुए तीन बार सम्मिलित घृत सामग्री की आहुति देवे।

ॐ त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।

यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽस्तु त्र्यायुषम् स्वाहा ।। य० ३।६२ ।।

अब साधारण रूप से सभी लोग घृत सामग्री की आहुति देवे।

ॐ मानो हासिषुऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः।

अमर्त्या मर्त्यां अभिनः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसेनः स्वाहा ।।

अथर्व ६।४१।३ ।।

ॐ भद्रं भद्रं न आभरेषमूर्जं शतक्रतो । यदिन्द्रमृडयासिनः ॥

ॐ इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन स्वाहा ॥

ॐ विवस्वान्नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामाजीरदानुः सुदानुः ।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् स्वाहा ॥

ॐ इन्द्रक्रतुन्नाभर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षाणोऽस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि स्वाहा ॥

ऋ०८/६३/२८॥ अथ०१२/२/२३॥ अथ० १८/३/६१, ६७ ॥

अब माँ का स्तन बच्चे को पिलावे। ईषद् उष्ण फुटन्त जल से दोनों स्तन अच्छी प्रकार सफाई करके पहले फेंक देवे। क्योंकि अवरुद्ध घन पूज के सम दूध पहले बार का होता है। उसे पिलाना उचित नहीं है। निम्न मन्त्र बोलकर प्रथम दाया स्तन को पान करावे। दूसरे मन्त्र से बांये स्तन को पान करावे। प्रथम बार स्तन कम मात्रा में पिलावे क्योंकि बच्चे को पाकस्थली में यह प्रथम बार ही खाद्य वस्तु जा रहा है। इस समय ज्यादा पीने से पेट खराब होने का भय रहता है। तभी जाकर पतला दस्त होता है। *निम्न मन्त्र पाठ करके स्तन पान करावे।*

ॐ इमंस्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरितस्य मध्ये ।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तर्वनत् समुद्रियंसदनमा विशस्व ॥ य०१७।८७ ॥

ॐ यस्तेस्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवोयः सुदत्रः ।
येन विश्वापुष्यसि वार्याणि सरस्वती तमिह धातवेकः ॥

इसके पश्चात् गायत्री मन्त्र के तीन आहुति १७वां दर्पण के अनुसार अवशिष्ट कार्य समापन करना है और ११ दिन तक जहाँ पर सन्तान

प्रसव हुआ या जिस घर में माता तथा सन्तान को रहना है। उस घर पर १७वाँ दर्पण से रोज़ाना यज्ञ करना चाहिए। अब अन्त में सभी लोग निम्न मन्त्र बोलकर *सन्तान को आशीर्वाद करें।* पत्र, पुष्प, अन्न आदि से वर्णन करने से पहले सन्तान के आँखें मुँह पर पतला कपड़ा से ढक देवें क्योंकि पुष्प आदि के कोई भी पदार्थ आँख, नाक, कान, मुँह आदि में प्रवेश न करें।

ॐ अरिष्टोऽहमरिष्ट गुरायुष्मान्त्सर्वपूरूषः ।
तं मायं वरणोमणिः परिपातु दिशोदिशः ॥
ॐ इमं विभर्मि वरणमायुष्मान् शतशारदः ।
समे राष्ट्रश्च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत् ॥ अथर्व १०/३/१०,१२

इसके पश्चात् शान्ति मन्त्र पूर्ववत् पाठ करके १७वाँ दर्पण के अनुसार सभी कार्य समापन करें।

॥ इति जात कर्म संस्कार ॥

।२५। पञ्चविंशति दर्पणः । (५ नामकरण संस्कार)

अब हम नाम करण संस्कार का वर्णन करते हैं। इस ब्रह्माण्ड के अन्दर सभी का कोई न कोई नाम होता है। जन्म-स्थान और नाम का बहुत बड़ा महत्व होता है। नाम तीन प्रकार के होते हैं यथा क्रिया वाचक, गुण वाचक, और उभयार्थ वाचक। मनुष्यों के नाम उभयार्थ वाचक क्रिया और गुण वाचक दोनों होना चाहिए। केवल क्रिया वाचक या गुण नाम जड़ वस्तुओं का होता है। नदी, सरिता, गंगा, शीला, अग्नि, वायु, भूमि, आकाश, दासी, भीमा, चण्डिका, मोहित, मोहन वाणी, राणी इत्यादि अच्छा नाम नहीं होता। उत्तम अर्थ संगति के साथ क्रिया वाची नाम अच्छा होता है। वर्गीय वर्ण घोष प्रथम द्वितीय

तथा अघोष तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम वर्णादि से संयुक्त पुरुष और स्त्री के दो अक्षर या तीन-चार-पाँच अक्षरों के भेद के अनुसार जो नाना मत हैं उसमें वेद के नाम अनुसार अर्थ संगति नहीं लगता। अतः सुन्दर उत्तम अर्थ संगति के साथ क्रिया वाचक नाम के ऊपर विचार करके नाम रखना ही उत्तम होता है। पुरुषों के नाम यथा—

जिष्णु विष्णु, सहिष्णु, महिष्णु, जयदेव, जलधर, गंगाधर, गमेश्वर, महेश्वर, खमेश्वर, भूवनेश्वर, नन्दकुमार, नन्देश्वर, धनेश्वर, नन्दधर, महिधर, महावीर, महानेश, मांधवेश, भवधर, भवतोष, महोधी, मुनिश्वर, माधवेश, देवदत्त, भद्रेश, बागीश, भाष्कर, प्रभाकर, दिवाकर, अंशुमालि, भद्रसेन, भार्गवेश, भवनाथ, नगेश्वर, जगन्नाथ, देवकुमार, जयदयाल, जयदेव, जयकुमार, सुकुमार, समीरण, सहिष्णुदेव, मुमुक्षु, हितेश्वर, जानमेजाय, विजय, कुमार इत्यादि बहुत सारे नाम होते है और महिलाओं के यथा :—श्री, हीरादेवी, मीरा, गायत्री, संगीता, सुखदा, सुमती, सुमीता, शंकरी, विभा, वीराङ्गना, यामिनी, भामिनी, माधुरी, माहेश्वरी, आभा, प्रभा, निभा, विभा, यशोदा, सुखदा, शुभङ्करी, महोधी, महावती, भद्रेश्वरी, भूवनेश्वरी, प्रियम्वदा, साधिका, सुभिता, गीता, गीताधी, मर्मदशी, कल्याणी, सुभाषिणी, सुनिता, सुधावती, सुधाराणी, सौदामिनी, सुहासिनी, मङ्गलिनी, सुमंगली, मालिश्वरी, धामिनी, धामेश्वरी, खमेश्वरी, गानेश्वरी, दानिका, मुमुक्षी इत्यादि बहुत सारे नाम अर्थ और क्रिया संयुक्त सुन्दर नाम रखना चाहिए।

सन्तान का नामकरण संस्कार जन्म से १०१ दिन के अन्दर हो जाना अच्छा रहता है। जिससे सभी लोग उसका अच्छा नाम लेकर ही उसके साथ व्यवहार करें। कभी भी विगड़ा हुआ मन के इच्छानुसार विगड़ा हुआ नाम से न पुकारें। उस में बच्चों के अन्दर अच्छा प्रभाव

नहीं रहता। अपना नाम भी दूसरों को बोलने में बच्चे गड़बड़ा जाता है। थोड़ा सा बड़ा होकर भी अपना मूख्य नाम निश्चय नहीं कर पाता। नकली नाम का प्रभाव जैसा टिन्कु, झरकु-पटक्य-भिन्टु-मिनु-टुनु-केष्टो -कल्लु-पिनकु-मोटकु-मेडु, वेष्टो-नाटकु-मिठु इत्यादि विगड़ा हुआ नाम है। प्रचलित हो जाने से वड़ा हो कर जब वह नाम सुनता या निजस्व लोग पुकारते हैं तब भी उसे मान-सन्मान के उपर आघात पड़ता है। अतः उपयुक्त श्रेष्ठ नाम से ही पुकारना चाहिए। उत्तम नाम के अर्थ-संगति से उसके श्रवण मात्र से ही मानसिक तथा आत्मिक विकाश होता रहता है। बच्चे तथा जवान भी नाम के अनुसार आचारण से बनने का प्रयत्न करता है। तभी जाकर नामकरण सार्थक होता है। इसलिए अर्थ व्यय करके उत्तम नाम रख कर उस नाम से ही उसे पुकारना चाहिए और उसके श्रेष्ठ अर्थ युक्त क्रिया का बोध करा देना चाहिए। तब वह बच्चा अपने नाम के अनुसार सर्वदा बनने का चेष्टा करता रहेगा।

अव १७ वां दर्पण के अनुसार सभी कार्य करके गायत्री मंत्र के आहुति देने से पहले निम्न मंत्र बोलकर सन्तान के पिता अपने स्त्री के गोद में देवें। सन्तान को पिता उसके माँ के गोद में इस प्रकार देवें जिससे *सन्तान का सिर उत्तर के तरफ और पैर दक्षिण की तरफ हो। मन्त्र यथा :—*

ओ३म् आपोदेवीः प्रतिगृभ्णीत भस्मैतत्स्योने कृणुध्वंसुरभाउ लोके।
तस्मै नमन्तां जनयः सुपत्नीर्मातेव पुत्रं बिभृताप्स्वेनत् ॥ य० १२।३५॥

अव निम्न मन्त्र बोलकर माता अपने बच्चे को गोद में लेवें। दोनों हाथ फैलाकर जब हाथों को सामने बढ़ावे तब निम्न मन्त्र बोलते रहे तथा बड़े श्रद्ध-भक्ति से *बच्चे को धारण या गोद में लेने का मंत्र यथा*

ओ३म् आते वत्सो मनो यमत्परमाश्चित्सधस्थात्।
अग्ने त्वां कामया गिरा॥ ऋ० ८।११।७॥

इस प्रकार से सन्तान को गोद में लेकर सभी प्रकार के तिथि देवतादि के नाम से घृताहुति तथा सामग्री आदि आहुति देवे। मनुष्य जीवन से सभी तिथि देवतादि के सहयोग होने से सभी देवों को देना चाहिए। किसी एक देवतादि के दृष्टि से एक के ऊपर ज्यादा कम का प्रभाव स्थायी रूप से नहीं होता। तिथि तथा तिथि देवतादि भी परिवर्तन होता रहता है। गर्भाधान के दिन से ही तिथि का प्रभाव प्रारम्भ होता है। पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जात कर्मादि में उसका लगातार प्रभाव एक में ही स्थित नहीं रहता। निरन्तर बदलता हुआ तिथिओं को पार करके वच्चा जन्म लिया है। सभी तिथिओं के परिवर्तन से निरन्तर शरीर का विकास हुआ है। अतः सभी देवता तथा तिथिओं के नाम से सार्व-जानिक आहुति देना सर्वोत्तम है। एक ही तिथि के प्रभाव का निश्चय मुहुर्त-क्षण के भेद बंगाल में ठिक ८ बजे जो रहेगा ठीक वही तिथि बिहार तक आधे घण्टे के व्यवधान से ७॥ बजे दूसरे तिथि का प्रभाव रह जावेगा। गर्भाशय से संतान स्थान परिवर्तन होकर आने में भी कई घण्टे का भी व्यवधान से तिथि-नक्षत्र का परिवर्तन हो जाता है। इसलिए यहाँ पर तर्क-वितर्क का विषय नहीं है। अग्नि को देने से सभी तिथि देवता और नक्षत्र आदि को मिल ही जाता है तब नाम भी लेना उत्तम है। अतः यहाँ पर व्यापक ज्ञान के नामांडल सीमा का मंत्र में ही पता लग जाता है। *घृत-सामग्री आदि के मन्त्रा हुति यथा—*

ओ३म् सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीयेऽआदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः। पञ्चमऽऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्ठमे। मित्रो नवमे वरूणो दशमऽइन्द्रऽएकादशे विश्वदेवा द्वादशे स्वाहा॥

ओ३म् उग्रश्च भीमश्च धान्तश्च धुनिश्च। सासहवांश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा। यजु० ३९। ६, ७॥

ॐ पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक्छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजाच्छन्दोऽश्वश्छन्दः स्वाहा ॥ यजु० १४।१६ ॥

ॐ अग्निर्देवता वातो देवता सूर्योदेवता चन्द्रमादेवता वसवो देवता रूद्रा देवतादित्या देवता मरूतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पति देवता इन्द्रो देवता वरुणो देवता स्वाहा ॥ य० १४।२०॥

इसके पश्चात पिता-माता उभय ही सन्तान के प्रति लक्ष करके बड़े श्रद्धा-भक्ति-प्रेम के साथ जिज्ञासा भाव से पूछे कि हे पुत्र ! तुम्हें मालुम है कि तुम्हारा क्या नाम है ? कहाँ से आये हो ? किसके हो ? किस ज्ञानामृत से अवगाहन करना चाहते हो ? भविष्य में तुम्हें क्या बनना है ? इसका मंत्र यथा —

ॐ कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि । यस्य ते नाममन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम् । भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥ य० ७।२९ ॥

इस मन्त्र को बोलकर ही पिता-माता अपने सन्तान के कान में सुनावे कि हम लोग तुम्हारा आज से यह नाम रखा है जिससे बड़े होकर इस नाम से ख्यातिवान होता हुआ सभी प्रश्नों के उत्तर का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करोगे । इसके निमित्त निम्न वाक्य सन्तान को सुनावें यथा —

भो वत्सः ! अद्यतनः तव नामः (रखा हुआ निर्धारित नाम बोलकर) असि । ईश्वरो प्रदत्त मम पुत्रः मुमुक्षार्थ सर्व शुभकामेच्छा पूर्ण भवतु । त्वं आयुष्मान् वर्च्चस्वी तेजस्वी ओजस्वी कल्याण कारकः श्रीमानः भूयाः । ॐ स्वस्ति-स्वस्ति-स्वस्ति ॥

यह वाक्य बोलकर सन्तान को उभय आशीर्वाद देवें। पश्चात १७ वाँ दर्पण के गायत्री मन्त्र से तीन आहुति देकर पूर्ववत् समापन करें।

॥ इति नामकरण संस्कार दर्पणः ॥

।२६। षटविंशति दर्पणः । निष्क्रमण संस्कार ॥६॥

अब इस निष्क्रमण संस्कार का वर्णन करते हैं। निष्क्रमण उसे कहते हैं जो निश्चित रूप से सन्तान के मन, बुद्धि, इन्द्रिओं में विकसित भाव पैदा होती है जिसके कारण सर्वदा इधर-उधर दौड़ने, भागने, दिखने चलने की चञ्चल वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। उस अवस्था में चलने-फिरने के लिए और बाहरी ज्ञान के लिए प्रतिबन्धन युक्त सीमा से छूट देना होता है इसलिए निष्क्रामण संस्कार करें। सन्तान को शुद्ध, पवित्र, नुतन वस्त्रादि से आच्छादित करके १७ वाँ दर्पण के सभी कार्य करके गायत्री आहुति से पूर्व *माता बच्चे का उत्तर के तरफ सिर एवं दक्षिण में पैर करके बच्चे के पिता के गोद में देवें और सभी लोग निम्न मन्त्रों से बच्चे को ईश्वर से कल्याण कामना करें।*

ओ३म् भद्रो नोऽग्निराहुतो भद्रारातिः सुभग भद्रोऽध्वरः।
भद्राऽउत प्रशस्तयः ॥

ओ३म् भद्राऽउत प्रशस्तयो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्य्ये
येना समत्सु सासहः ॥

ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः
स्थिरैः अङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

ओ३म् शतमिन्नु शरदोऽअन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मानो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ॥

यजु० १९/२८, २९, यजु० २९/२१, २२ ॥

अब माता निम्न मन्त्र बोलते हुए बच्चे के सिर पर तेल मालीस के सम हाथ फिरावे जिससे बच्चे को अच्छा लगे और प्यार हो।

ॐ पर्वताद् दिवो योनेरङ्गादङ्गात् समाभृतम्।
शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवादधत्॥
ॐ यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा दधामिते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे॥
अथ० ५/२५/२,१॥

इसके पश्चात् *स्वामी-स्त्री उभय ही निम्न मन्त्र* बच्चे के दोनों *कानों में सुनावे* जिससे बच्चे सर्वदा इधर-उधर घुमने-फिरने देखते-सुनने में सर्वदा ही *पवित्र और कल्याण* के प्रति लक्ष हो। कभी भी उसकी यात्रा अशुभ न हो। मन्त्र यथा—

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैः अङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥
ऋ० १/८९/८॥

इसके बाद सन्तान को सूर्य के तरफ ईशारा करके सूर्य का दर्शन कराते हुए निम्न मन्त्र का उच्चारण करें। क्योंकि जड़ जगत में प्राणी मात्र का पथ प्रदर्शक सूर्य ही है। सूर्य *दर्शन मन्त्र यथा*—

ॐ तत् चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतंशृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ यजु० ३६।२४॥

इसके पश्चात ही प्राकृतिक सृष्टि के पुष्प, वृक्षादि दर्शन कराकर यज्ञ कुण्ड को तीन बार *निम्न मन्त्र को बोलते हुए बच्चे को लेकर स्वामी-स्त्री परिक्रमा* करें और अग्नि की तरफ दृष्टि रखें।

ॐ अग्ने प्रे हि प्रथमो देवयतां चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानाम् ।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्य्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥

अब निम्न मन्त्र के द्वारा घृतादि के आहुति देकर तीन बार गायत्री मन्त्र से आहुति देवे ।

ॐ त्रातारमिन्द्रं अवितार मिन्द्रं हवेहवे सुहवँशूरमिन्द्रम् ।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्तिनो मघवा धात्विन्द्रः स्वाहा॥
यजु० १७।६६ ॥ यजु० २०।५० ॥

अब परवर्ति कार्य १७ वाँ दर्पण के सम समापन करें ।

॥ इति निष्क्रमण संस्कार दर्पणः ॥

।२७। सप्तविंशति दर्पणः । (७ अन्न प्राशन संस्कार)

अब अन्न प्राशन संस्कार का वर्णन करते हैं। जब अन्न पचाने की शक्ति उत्पन्न होती है तब बच्चे के मुँह में दाँत उगने लग जाता है। तभी बच्चों का अन्न प्राशन संस्कार करें। यह सारे ब्रह्माण्ड का जो मालिक है सभी कुछ उन्हीं का ही बनाया हुआ है। किसी के घर का या सुरक्षित रखा हुआ सामानों का यदि दूसरा कोई प्रयोग करना चाहे तो यह एक शिष्टाचार है कि मालीक की पहले अनुमति ले। मालीक से अनुमति लेकर ही सर्वदा वस्तुएँ व्यावहार करने से मालीक सन्तुष्ट रहता है। सभी के लिए यह व्यवहार बराबर है। अतः बच्चे के जीवन में प्रथम बार अन्न देना ही एक महत्व पूर्ण संस्कार है। इसलिए बड़े श्रद्धा-भक्ति प्रेम और सभी के मालिक ईश्वर को स्मरण करते हुए घृत आदि से उत्तम अन्न पकावें। १७ वाँ दर्पण के सभी कार्य करके गायत्री से पूर्व निम्न मन्त्र बोलकर अन्न की आहुति देवे। बच्चा गोद में रहे।

अन्नाहुति मन्त्र यथा—मन्त्र पाठ काल में प्रत्येक स्वाहा स्थान में आहुति देते रहे।

ओ३म् आयुर्यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ॥ प्राणो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ॥ अपानो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा। व्यानो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ॥ उदानो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा। समानो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ॥ चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ॥ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ॥ वाक् यज्ञेन कल्पतां स्वाहा। मनो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ॥ आत्मा यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ॥ ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ॥ स्वर्यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ॥ पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ॥ यज्ञोयज्ञेन कल्पतां स्वाहा ॥ ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां स्वाहा ॥ यजु० २२/२३ ॥

अब आहुति दिया हुआ पात्र के अन्न को सामान्य दधि, घृत, मधु, लवण मिश्रित करके निम्न मन्त्र पाठ करते हुए अन्न को बड़े प्यार और भगवत भक्ति से खिला दे। *यही मन्त्र पाठ करके आजीवन खाद्यान्न को सभी लोग सर्वदा खायें। मन्त्र यथा*—

ओ३म् अन्नपतेऽअन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ यजु० ११/८३॥

इसके पश्चात १७ वाँ दर्पण के गायत्री से तीन आहुति देकर परवर्ति कार्य यथाक्रम समापन करें।

॥ इति अन्न प्राशन संस्कार दर्पण ॥

।२८। अष्ट विंशति दर्पणः । (८-चूड़ा कर्म संस्कार)

अब चूड़ाकर्म संस्कार का वर्णन करते हैं। चूड़ाकर्म का अर्थ है चौल कर्म या केश कर्तन अथवा केश छेदन संस्कार। जन्म से मातृगर्भ में ही जो सिर पर केश हुआ था सो उसे काटकर फेंकना है, जिसमे नये

सुन्दर, घने, बराबर सर्वत्र ही केश सिर पर हो जावें। विचित्रता यहाँ पर यही है कि लोग इस संस्कार को भूल गये हैं। उसका कारण है ब्राह्मणों के मूर्खता तथा लापरवाही क्योंकि साधारण जनता को न समझाकर उसे विवाह के समय में 'चूड़ाकर्म' का बिधि बताते हैं। चूड़ा का अर्थ अब वर-वधु के सिर पर सजाया हुआ मुकुट के अर्थ में लिया है। चूड़ाकर्म के लिए नाई आवश्यक है। उसमें नाई को बुलाने से ब्राह्मणों का एक हिस्सा बँट जाता है। तब ब्राह्मणों ने इसकी प्रधानता को घटा दिया जिससे नाई को लोग ज्यादा न बुलावें। ये भी एक चालाकी थी जोकि विवाह के समय में चूड़ा कर्म को माथे का मुकुट पहना कर समाप्त कर देता है।

जब चूड़ा कर्म के महत्व को लोग खो बैठे तब नाना देवी-देवता, तीर्थ-देवालय, फकीर, पीर, पैगम्बर, जादु, टोना, गिनती, मानत, ईत्यादि ! चक्र में घूमते रहे। घर में पुरोहित पण्डित लोग सर्वदा बुलाकर इष्ट-मित्र, वन्धु, बान्धव आदि के साथ आनन्द उत्सव करता हुआ चूड़ाकर्म संस्कार को नहीं कर पाता। कु संस्कार के कारण वह अभागा अपने बच्चों को लेकर और रुपये पैसे जहाँ तक संग्रह कर सका सो लेकर यहाँ तक कि उधार, कर्ज, सम्पदा आदि विक्रय करके भी पोटला बान्धकर तीर्थ में चला जाता है और पण्डित, पुरोहित पण्डे आदि के स्थानों में जाकर हजारों रुपये खरचा कर डालता है। इससे बढ़कर दुर्भाग्य वाला कौन होगा जो अपने सन्तान का उत्सव अपने ही ईष्ट-मित्रों को लेकर मना नहीं पाता। अपने घर का कल्याण युक्त शुभ कर्म सर्वदा अपने घर में ही होना चाहिए। अन्यथा महिना वर्षों तक सिर दर्द बना रहता है कि कब कैसे किसके साथ क्या-क्या लेकर कहाँ-कहाँ पर यात्रा करेगा सो ये ही एक भारी समस्या बनी रहती है।

अब १७वाँ दर्पण के सारे कार्य करके गायत्री आहुति से पहले उत्तम नाई के द्वारा उष्ण उबला हुआ पानी में तिखे उस्तरा को पकावे अर्थात् किसी भीं प्रकार के जर्म, किटाणु आदि से सेफटिक. टिटानस आदि का भय न रहे। *उष्ण जल से जब उसे उठावे' तब उसे ठण्डा करने के लिए शुद्ध ठण्डे जल में छोड़ देन' का मन्त्र यथा—*

ॐ आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि।
आदित्या रूद्रा वसव उन्दन्तुसचेतसः सोमस्यराज्ञो वपत प्रचेतसः॥

अथर्व० ६/६८/१।

अब किञ्चित शीतल जल पात्र से शिशु के माथे पर लगावे चाहे दूध या मट्ठा-मक्खन भी लगा सकते है। अर्थात् *सिर को गिला करते या मालीश करते समय निम्न मन्त्र बोले।*

ॐ अदितीः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तुवर्चसा।
चिकित्सतु प्रजापतिः दीर्घायुत्वाय चक्षसे॥ अथ० ६।६८।२।

अब निम्न मन्त्र बोलते हुए पहले शिशु के दाये के तरफ का कुछ केश कटे और बाये तरफ का कुछ केश काटे।

ॐ शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽअस्तु मामा हिंसिः। निवर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्य्याय॥ य० ३।६३॥

शिखा रखने या बाँधने का मन्त्र यथा—

ॐ आत्मन्नुपस्थे न वृकस्य लोम मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम। केशा न शीर्षन्यशसे श्रियैशिखा सिंहस्य लोम त्विषिरिन्द्रियाणि॥

॥ य० १९। ९२॥

यह शिखा मनुष्य के शोभा, ब्रह्मचर्य शक्ति, व्रतधारी, यश कीर्त्ति

ऐश्वर्यों के निरन्तर निर्माण करता या बढ़ाता है। इसे केवल केश नहीं समझना चाहिए। यह तो अपूर्व शक्ति के द्योतक है। मानो इसे सिंह के केश समझना चाहिए। इसे कोई पकड़ नहीं सकता। सर्वदा तीव्र गति, पुरुषार्थ, मस्तिष्क के विकाश, पराक्रम मन्यु भाव को पैदा करती है। प्रत्येक कठिनाईओं में सिंह के सम उछल पड़ता हुआ कार्य को कर लेता है। उसके तेज, ऐश्वर्य, बल-पराक्रम से सभी दुर्बल प्राणी भाग जाता है। इसलिए इसे वेद में सिंह लोभ कहके पुकारा है।

अब शिखा को वाद देकर *निम्न मन्त्र पाठ करते हुए सभी केश काट डाले।*

ॐ यत्क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु।
शुभं मुखंमानः आयुः प्रमोषीः ॥ अथर्व० ८/२/१७

अब शिशु को स्नान कराकर १७ वाँ दर्पण के गायत्री से तिनबार आहुति देकर पूर्ववत सभी कार्य समापन करें।

॥ इति चूड़ाकर्म संस्कार दर्पण ॥

।२९। एकोनत्रिंश दर्पणः । (९-कर्णवेध संस्कार)

कर्णवेध संस्कार ४ र्थ महिना अथवा जन्म से एक वर्ष के अन्दर अवश्य ही कर देना चाहिए क्योंकि इस उमर में दैव छिद्रका पता लगता है। ज्यादा उम्र होने से पता नहीं लगता। यदि निपूण दर्शी दैव छिद्र में ही बड़ा छिद्र कर देवे तो जीवन में हरिणीया, कोष वृद्धि, कर्ण, चक्षु विकार नहीं होता। कर्ण वेध संस्कार के साथ इसका बहुत बड़ा सुन्दर प्रभाव रहता है। पुंशक्ति और स्त्री शक्ति के उभयों में समय से ही इन्द्रियों के विकास प्रभाव पढ़ता है। इसलिए बालक और बालिका उभय के लिए ही कर्णवेद संस्कार होता है। वर्तमान में इसका ज्ञान न होने से केवल अलंकार परिधान के लिए ही बिना विधि विधान से ही कर्ण में

छिद्र कर देते हैं। यह कर्म पद्धति शरीर के लिए विशेष लाभ दायक नहीं होता। उसमें नाना प्रकार के रोग कर्ण तथा नासिका के छिन्द पक जाता है। कर्ण और नासिका के दोनों तरफ छिद्र करना चाहिए।

उपर्युक्त दिनधार्य करके १७ वाँ दर्पण के सभी विधि के अनुसार कार्य करें। गायत्री मन्त्र से पहले बच्चे को प्यार करे। कुछ प्रलोभनीय वस्तु देवें। उसे प्रसन्न रखते हुए निम्न मन्त्र को बोलकर *सभी लोग ईश्वर से शुभ कामना या प्रार्थना करें।*

ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गै स्तुष्टुवा ᳪसस्तनू भी व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥
ऋ० १/८६/८॥

अब निम्न दोनों मंत्रों से कर्ण वेद संस्कार करें। *प्रथम मन्त्र से दाये कर्ण और द्वितीय मन्त्र से बाये कर्ण छिद्र करें।* यह बात ध्यान देना चाहिए कि बच्चे घबड़ा न जावे। उसमें भय के द्वारा मानसिक विकार होने का भी डर रहता है। यह कार्य साहस रखने वाला व्यक्ति ही झटका से छिद्र कर देवें। चाहे एक ही समय में दोनों कानों को दो व्यक्ति शिघ्रता से छिद्र कर देवें। क्योंकि पहले बार में बच्चे रो पड़ता है उसके पश्चात दूसरे कर्ण छिद्र के समय बच्चा ज्यादा घबड़ा जाता है और उसे जोर-जुलुम से कर्ण छिद्र करने से भय खा जाता है।

ओ३म् सुनावमा रूहेयम स्त्रवन्ती मनागसम्।
शतारित्रांस्वस्तये॥ यजु० २१।७॥

ओ३म् वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सुखाय परिषस्व जाना।
योषेवशिङक्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती॥
ऋ० ६/७५/३॥

अब बच्चे का रोना तथा सभी के उद्विग्नता दूर करने के लिए सभी लोग पहले के सम शान्त होकर निम्न मन्त्र में तीन बार घृता हुति आदि देवें।

ॐ शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्।

शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तुनः। अथर्वये १६/६/२॥

इसके बाद १७ वाँ दर्पण के अनुसार तीन बार गायत्री मंत्र के आहुति देकर पूर्ववत शेष कार्य समापन करें।

॥ इति कर्णवेध संस्कार दर्पण ॥

।३०। त्रिंशत दर्पणः । (१०-उपनयन संस्कार)

मनुष्य जीवन के अन्दर जितने संस्कारें हैं उनमें उपनयन संस्कार सर्वश्रेष्ठ महत्व रखता है। इसलिए इसे द्विज अर्थात द्वितीय जन्म कहते हैं। उपनयन संस्कार का महत्व जब सभी लोगों में घट गया तब नाना मत मतान्तर के गुरुओं ने शिक्षा और दीक्षा का स्वरूप उठा करके दूसरा वातावरण निर्माण किया। अब सभी लोगों को एक सामान्य संस्कार बन गया है जो कि—गुरु धारण शिक्षा-दीक्षा के बिना हाथ का जल भी अपवित्र, अशुचि, नरक गामी होता है। देवालयों में भी उसका स्थान नहीं होता, उसके स्पर्श ही सर्वत्र अपवित्र रहता है। भगवान भी उसे ग्रहण नहीं करता। इसी डर के कारण ही केवल कान में मन्त्र के नाम से कुछ बनाया हुआ अलग २ शब्द सुना देते हैं, जिसे दूसरों को सुना न सके और मन में भय भी उत्पन्न करा देते हैं कि—सुनाने से १४ पुरुष या पीढ़ी तक नरक में निवास होता है, क्योंकि वह वेद मन्त्र न होने से ही गोपन रखता है। जो शब्द, वार्तालाप, व्यवहार, आचरण आदि को गोपन रखते हैं उसमें चोरी-जारी, व्यभिचार, ठकबाजी, परनिन्दा, नुकसान, राग, द्वेष, स्वार्थपरता को छोड़कर और कुछ भी नहीं होता।

मूल बात यह है कि ईश्वर के नाम, यश, कीर्ति, ऐश्वर्य आदियों को कोई गोपन रख नहीं सकता। खराबियाँ ही धर्म के आड़ में गोपन रह जाते हैं।

उपनयन संस्कार से ही शिक्षा-दीक्षा हो जाती है। क्योंकि वेद मंत्रों में सर्वश्रेष्ठ गुरु मन्त्र, बीज मन्त्र, महामन्त्र, सामगान गायत्री मन्त्र, वेद्माता सावित्री मन्त्र, त्रिपदा-त्रिनाथ महामन्त्र इत्यादि जो भी ख्याति है सो एक मात्र सर्वश्रेष्ठ गायत्री मन्त्र को ही कहते हैं। लोगों ने गायत्री के नाम को भी बिगाड़ा है। हनुमान गायत्री, राम गायत्री, कृष्ण गायत्री, शंकर गायत्री, लक्ष्मी गायत्री, विष्णु गायत्री, काली माता गायत्री इत्यादि संसार के सभी देवता-देवी और गुरु आदि के भी नाम लेकर असंख गायत्री बन गया है और निरन्तर बन भी रहा है। परन्तु चारों वेदों में जो *वेद माता महा सामगान त्रिपदा गायत्री महा गुरु मन्त्र* को कहा है सो उससे दूर रखकर दूसरों को भयदेखा देते हैं। उसका एक मात्र कारण यह है कि इस मन्त्र के उपदेश करने से अपना गुरुपना रंग-ढङ्ग या व्यवसादारी रहता नहीं। अपनापन में ही सब कुछ नाश कर डाला। अतः वैदिक सिद्धान्त से जो उपनयद संस्कार एक बार कर लेते हैं सो उनमें यह भ्रम का चक्र फेरा और नहीं रहता। इसलिए केवल मात्र ईश्वर कृत वेद मन्त्रों के द्वारा शिक्षा और दीक्षा लेने के लिए ही उपनयन संस्कार का अनुकरण करना चाहिए।

यदि तीव्र मेधावी सन्तान हो तो ८ वर्ष के उमर से तथा स्थूल, कम बुद्धि के विकास को देखते हुए यथा क्रम १२, १५, १८, २०, २५ वर्ष तक भी उपनयन संस्कार कर सकते हैं। विवाह के पूर्व ही सभी प्रकार के संस्कारों का ज्ञान हो जाना चाहिए जिससे गृहस्थ धर्म में जाने के बाद कोई भी समस्या बर-बधु को न रहे अर्थात उसे नाना प्रकार के तत्व ज्ञान होना अत्यावश्यक है। गृहस्थ धर्म बहुत बड़ा जिम्मेदारी का है।

मौज उड़ाने का नहीं है। अब प्रश्न हो सकता है कि २५ वर्ष से ज्यादा उमर होने से उपनयन संस्कार न लेवे ? इसका यह उत्तर है कि जिन्हें कुछ पूर्व में मालूम ही न था तब तो जिस उमर में ही ज्ञान हो सो उसके महत्व को जानते ही वैदिक संस्कारों में व्रतधारी हो जाना चाहिए।

उपनयन या शिक्षा-दीक्षा लेने से पहले शरीर, मन तथा आत्म शुद्धि के लिए जितने उत्तम नियमादि पालन कर सके सो अच्छा ही है। उसमें दो तीन दिन पहले फल, दुग्ध आहार, निरामिश, शुद्ध, पवित्रता के प्रति जहाँ तक ज्यादा पालन कर सके सो अच्छा है। इसका उपवास करना अति उत्तम है। शरीर स्वस्थता के लिए यह आचरण महत्वपूर्ण है।

ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणी दोनों उपनयन के समय श्रद्धा-भक्ति, प्रेम से निम्न मन्त्र बोलते हुए सर्न प्रथम आचार्य या गुरु के पास प्रार्थना करे कि—हे देव ! आप से हम यह कामना करते हैं कि जिससे आपके सर्व-श्रेष्ठ पथ-प्रदर्शन से हम दीर्घायु तक बड़े तथा आनन्द के साथ मुक्ति को प्राप्त करें।

ओ३म् ब्रह्मचर्येण तपसादेवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ अथर्व० ११।५।१६॥

अब शिष्य को अमरत्व मुक्तानन्द को पाने के लिए गुरु का उपदेश है कि—हे शिष्य ! तुम जिसे चाहते हो सो उसके लिए निम्न मन्त्र को विचार करो—तुम्हें क्या-२ चाहिए और क्या-२ करना है ?

ओ३म् ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकास्तपसा पिपर्ति ॥
अथर्व० ११।५।४ ॥

अर्थात हे ब्रह्मचारी ! कटिबद्ध के लिए मेखला धारण करो। जिससे कठोर परिश्रम योग-तप साधनादि से स्वयं ज्ञानामृत को पान कर सको एवं समस्त लोक मात्र के पथ प्रदर्शन कर सको। साधना और तप के

बिना तुम्हें कोई कुछ देने वाला नहीं है। जिस प्रकार समिधा के बिना अग्नि नहीं बढ़ता। उस प्रकार ही तपाया हुआ समिधा का रूप धारण करने से तुम्हारे अन्दर मुक्त ज्ञाना मृत आनन्द को भी अवश्य ही मिलेगा।

अब गुरु शिष्य को नुतन वस्त्रादि परिधान के लिए देवें जिससे शिष्य अपने पुराने वस्त्रों को त्याग देवे और नये वृत्ति, गुण, कर्म, स्वभाव, तप, साधना रूप वस्त्रों को शुद्ध निर्मलता से वस्त्र के सम धारण करें। उस समय *निम्न मन्त्र गुरु उच्चारण करके वस्त्र हाथ में देवे।*

ओ३म् आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुमाणं ते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

अथर्व० ११/५/३॥

हे शिष्य :—आज तुम्हारा सौभाग्य है। उपनयन संस्कार करके कठोर व्रतधारी होकर स्थिर- धिर, शान्त, पवित्र, निर्मल भाव से तीन रात तक गुरु के पाछ रहो। गुरु के ज्ञानामृत गर्भ में चारों तरफ से मातृ गर्भ के समज्ञान से ढके हुए जैसे आच्छादित रहो। हमारे उत्तम उपदेश के अन्दर रहो जिस प्रकार दिव्यात्माएँ वेदादि शास्त्र के अनुकूल रहकर मुक्त ज्ञानामृत आनन्द को पाया है।

इस प्रकार उपदेश के पश्चात् १७वाँ दर्पण के सारे कार्य करें। यज्ञेश्वर प्रार्थना, स्वस्ति शान्ति पाठ करके शुद्ध, पवित्र, निर्मल उपरोक्त उपदेश के अनुरूप होकर *निम्न मन्त्र पाठ करके गुरु के हाथ से उपनयन धारण करें।*

उपनयन धारण :—उपनयन धारण करके १७वाँ दर्पण के सभी कार्य करके गायत्री से पूर्व निम्न मन्त्रानुरूप कार्य करें।

ओ३म् सचेतयन् मनुषो यज्ञबन्धुः प्रातः मह्या रशनया नयन्ति।
सक्षेत्यस्य दुर्यासु साधन् देवोमर्तस्य सधनित्वमापः॥ ऋ० ४।१।९॥

प्रार्थना हे (यज्ञ बन्धुः) परम पिता परमात्मन् ! आप हमारे त्रिगुणात्मक ज्ञान, कर्म, उपासना के आमरन नित्य, शाश्वत साथी, मित्र, सखा, बन्धु हो। जिस प्रकार गौयादि पशु के मालिक (रशनया) रज्जु के सूत्र वन्धन से अच्छे प्रकार बाँध करने (नयन्ति) अपने इच्छा के अनुसार इधर-उधर ले जाता है और पशु उस सूत्र बन्धन के सीमा में रहता है ठीक वैसा ही अज्ञान पशु जन्म से दिव्य, शुद्ध, पवित्र गुण, कर्म, स्वभावादि के त्रिगुण बन्धन ज्ञान, कर्म, उपासनादि का अच्छे प्रकार अधिकार कर सकूँ। इसलिए ही मैं यह (यज्ञ बन्धु) यज्ञ सूत्र को (स चेतयन मनुषो) अच्छे प्रकार जान-बुझ करके इस दुर्लभ मनुष्य चोले में धारण कर रहा हूँ। जिसके सहयोग से इस (मर्तस्य) मरणशील मनुष्य जीवन में ही (दुर्यासु क्षेति) बड़ी कठिनाईयों के नाना प्रकार बाधा-विघ्नों को सहन करता हुआ (स साधयन देवः) दिव्य, पवित्र आत्माओं के सम कठोर तप-साधना मय होकर (सधनित्वमापः) आपके नित्य आनन्द ऐश्वर्य युक्त ज्योतिर्मय मुक्तावस्था को प्राप्त कर सकूँ। (प्रतं मह्या) यही हमारे नित्य प्रातः स्मरणीय रूप से सिद्ध हो।

इस प्रकार मन्त्रार्थ सह संकल्प करके उपनयन या यज्ञबन्धु सूत्र को धारण करें। त्रिगुणात्मक सृष्टि प्रक्रिया के महत्व पूर्ण अर्थ संक्षेप में निम्न प्रकार समझें। क्योंकि तीनों गुणों के अर्थ ही महत्व पूर्ण सार्व भौम ज्ञान-गमन प्राप्ति के लिए है यथा—

१। त्रिगुण बन्ध—सत्व, रज, तम। २। सृष्टि, स्थिति, प्रलय। ३। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर। ४। सुख, दुःख, मोह। ५। वायु, पित्त, कफ। ६। उत्तम, मध्यम, अधम्। ७। स्वर्ग,मर्त्त, पातल।८। मातृ-पितृ ऋण, देव, ऋषि ऋण। ६। जीव, ईश्वर, प्रकृति। १०। अ+उ+म्=ओ३म। ११। पृथिवी द्यु लोक, अन्तरिक्ष, लोक। १२। आध्यात्मिक, आधिभौ-

तिक, आधि दैविक । १३ । भूः, भुवः, स्वः । १४ । ज्ञान, कर्म, उपासना १५ ।मस्तक, काय, पाद १६ । भ्रु युगल, नासिकाग्र, हृदय १७ । मस्तक, तालु, कण्ठ १८ । हृदय, उदर, नाभि १६ । पाद, एढ़ि, कोमर २० । हस्त कनुई, कान्ध २१ । जल, हड्डी, माँस २२ । तरल, कठिन, कोमल २३ । ईड़ा, पिंगला, सुषुम्ना २४ । पुरुष, स्त्रि, नपुंसक २५ । एक वचत, द्विवचन, बहुबचन २६ । हस्व, दीर्घ, प्लुत, २७ । प्रथम, मध्यम, उत्तम २८ । योग, वियोग, गुण २६ । स्वपक्ष, विपक्ष, उभय पक्ष ३० । ज्ञान, गमन, प्राप्ति ३१ । उदात्तः, अनुदात्तः, स्वरितः ।

इस प्रकार के त्रिगुणात्मक ज्ञान तत्वको प्राप्त करना चाहिए। इसलिए ही वैदिक सिद्धान्त में उपनयन के लिए आँखों के सामने तीन ही गुण का यज्ञ सूत्र होता है। जो लोग ग्रह आदि के शान्ति के लिए आय-उपार्जन तथा दशा-राशि के फेरे में घुमते या दूसरों को फँसाते हैं वे लोग नव ग्रह के नाम से ६ गुण सूत्र धारण करते हैं। उन्हें सभी ज्ञानों के चर्चा करनी नहीं होती। वेदानुकूल प्रमाणयुक्त कर्म-कांड नहीं कराते।

गायत्री से पूर्व निम्न कार्य को गुरु के हाथ से शिष्य अपने हाथों में ठण्डे जल को लेवें तथा मन्त्र उभय ही पाठ करें। गुरु शान्त पवित्र *निर्मल जल को शिष्य के हाथों प्रदान कर उपदेश करें कि*—आज से गुरु जो कुछ देवें या कहे सो सभी शिक्षायें शितल-जल के सम ज्ञान की प्रवाह के सम वहती रहे।

ॐ आपो हिष्ठा मयो भुवस्तान ऊर्जे दधातन महेरणाय चक्षसे। ॐ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेहनः। उसतीरिव मातरः॥ ॐ तस्भा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथाचनः। ऋ० १०।६।१-३॥

अब इतने समय में शिष्यका हाथ में लिया हुआ जल उष्ण या गर्म हो गया है। शरीर के गरमी से अब गुरूका शितल भाव नही रहा। इसी प्रकार शिष्य के जीवन में जो कुछ विषय भोग रूप ज्वलाये है जो, काम, क्रोध, लोभ, मोह, इर्षा, द्वेष, लज्या, शंका, भय अज्ञानता आदि दोष युक्त ज्वालाए अपने हाथों से गुरूको भेंट करेगा। प्रातः काल-दोपहर और रात को अर्थात प्रत्येक मूहुर्त में गुरूके सद् उपदेश को स्मरण करे और अपने गन्दगी को अर्थात् अज्ञान युक्त कू संस्कार भावनाए तथा कूकर्मादि गुरूको त्याग देवे। इस भावनासे *निम्न मंत्रबोलकर गुरू के हाथ में अपना हाथ का जल को छोड़ देना।*

ओ३म् स्वस्तितं मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनंमे अस्तु। सुहवमग्ने स्वस्ती अमर्त्यंगत्वापुनरायाभिनन्दन् ॥ अथर्व० १६।८।३॥

अब आर्चार्य *निम्न मन्त्र को बोलते हुए अपने हाथ में शिष्य के हाथ के जल को लेवें* और हाथ के जल को सिर पर डालते हुए हाथ को सिर पर से ग्रीवा पीठ को थवड़ाकर बोलें कि—हे शिष्य ! तुम अभी से महान बनने जा रहे हो। हमारी शुभ कामना है कि तुम सदा बड़े महान आदर्श के पथ पर चलोगे। कभी भी विपथगामी न हो पावें।

ओ३म् देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यांपूष्णो हस्ताभ्याम् आददे नार्यसीदमहं रक्षसां ग्रीवाऽअपि कृन्तामि। बृहन्नसि बृहद्रवा बृहती मिन्द्राय वाचं वद ॥ य० ५।२२॥

इसके बाद ब्रह्मचारी आचार्य समेत यज्ञ कुण्ड का *निम्न मन्त्र बोलते हुए परिक्रमा* करे क्योंकि शिष्य का भार गुरु को अर्पण करके एकाग्र वृत्ति के श्रेष्ठ पथ ग्रहण किया है। अब इसी में ही विचरण करता रहेगा।

ओ३म् युवा सुवासाः परिवीत आगात् सउ श्रेयाण भवति जायमानः ।
तं धीरासः क्वय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥ ऋ०३/८/४॥

अब पूर्ण मात्रा में *शिष्य निम्न मन्त्रों को पाठ करके घृता हुति* देवें और व्रतधारी बनने के लिए प्रतीज्ञा करे ।

ओ३म् अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूरियं सा मयि यो मम
अनूरेषा सात्वयि सहनौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिः
मन्यतानन्नु तपस्तपस्पतिः स्वाहा ॥ इदं व्रताय ॥ इदन्नमम् ॥

ओ३म् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मेराध्यताम् ।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा इदं अग्ने व्रतपते इदन्नमम ॥
यजु० ५/६ ॥ यजु० १/५ ॥

ओ३म् आभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयी ।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥
स्वाहा ॥ इदं व्रतपते । इदन्नमम् । यजु० २०/२४ ॥

अब शिष्य *गुरु के पाछ मुक्ता वस्था प्राप्त के लिए उसके उपदेश* और उपाय को पूछ रहा है ।

ओ३म् ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठात् दिवमुत्पतिष्यन् ।
तस्मै प्रभाति नभसो ज्योतिषीमान्तस्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः
स्वाहा ॥ इदं मोक्षाय ॥ इदन्न मम ॥ अथर्व० १८/४/१४॥

अब गुरु शिष्य को उपाय बताते हुए शिष्य को निम्न मंत्र में उपदेश करते हैं कि तेरा जो कुछ मैल बुराइयाँ दोष आवर्जनादि हैं सो मेरे सामने

त्याग दे और मेरी जो अच्छाइयाँ हैं सो मैं तुझे देता हूँ । उसे ग्रहण

करता रहना। मैं ईश्वर नहीं होने से मेरे में भी खराबियाँ हो सकतीं हैं सो उसे तू ग्रहण नहीं करना। मेरा उपदेश जो सर्व हितकारी है उसे तू ग्रहण करना।

ॐ देहि मे ददामिते निमे धेहि निते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणिते स्वाहा॥
इदं आदान प्रदानाय। इदन्नमम॥ यजु० ३।५०॥
ॐ यदग्ने यानिकानि चिदा ते दारूणि दध्मसि।
सर्वं तदस्तु मे शिवं तज्जुषस्व यविष्ठय स्वाहा॥
इदमोक्षेश्वराय इदन्नमम॥ अथर्व० १९।६४।३॥

अब गायत्रीमंत्र के तीन आहुति करके शिष्य निम्न वाक्य से शेष परिचय का प्रदानकरते हैं।

ॐ अहम्भो अद्यतनः भवतः शिष्यः (अपना नाम उल्लेखकर) ब्रह्मचारी साधकोऽस्मि। आशीर्वादयः॥

गुरु का आशीर्वाद—

ॐ यानि कानि चित्शान्तानि लोके सप्तऋषयो विदुः।
सर्वाणि शं भवन्तु मे शंमे अस्तु अभयं मे अस्तु॥
ॐ शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः ॐ॥ अथर्व० १९।९।१३॥

हे शिष्य! तुम्हारे चित्त में पाचों ज्ञान इन्द्रिय और मन, बुद्धि ये सात गति केस्रोतों में जो कुछ भी ज्ञान, कर्म, उपासना की बातें हैं वह मैं तुम्हें प्रदान करता रहूँ। तुम साधना करते रहना। जो कुछ भी अज्ञानता का बन्धन हो वह सारे शान्त हो जाय। मेरा अपना भी यही व्रत है और तुम भी इसी पथ पर चलो।

इसके बाद ही "वेदारम्भ संस्कार" दर्पण है। उपनयन संस्कार में ही गायत्री मन्त्र के द्वारा आहुति देने से पूर्व वेदारम्भ संस्कार भी दीक्षा के रूप में कर लेवें। अतीव उत्तम रहेगा। तब शिक्षा-दीक्षा दोनों हो जाता है। इन दोनों संस्कार के समय में अन्त भीक्षा की विधान है। ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी अपना अपना अभिमान चूर्ण करने के लिए समाज समुह के पास भीक्षा के लिए जावें और कहे ।। *भीक्षां देही भो!* आप सभी लोग हमें भीक्षा देवें हमें अपने पेट पालने के लिए नहीं। गुरुजी महाराज का शिक्षा है कि समाज, राष्ट्र तथा धर्म की रक्षा के लिए सार्वजनिक उन्नति में कभी भी हमारे में अभिमान न हो। अपने ज्ञान-श्रेष्ठ गुरु को ही पहले बार का दक्षिणा प्रदान कर रहा हूँ। हम सार्बजनिक कार्य में कभी पीछे न रहे। *भीक्षा को एकत्र करें और पोटला समेत गुरु को निम्न मन्त्र बोरु कर प्रदान करें* और विशेष श्रद्धा पूर्वक नमस्कार करें।

ॐ भद्रं इच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततोराष्टं बलभोजश्च जातं तदस्मैदेवा उपसन्नमन्तु ।।
ॐ इमां भूमिं पृथवीं ब्रह्मजारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवञ्च।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरर्पिता भुवनानि विश्वा।

अथर्व० १९।४१।१। अधर्व० ११।५।९ ।।

अब १७वाँ दर्पण के अनुसार पूर्णाहुति आदि कार्य करें।

।। इति उपनयन संस्कार दर्पणः ।।

।३१। एकत्रिंश दर्पणः । (११-वेदारम्भ संस्कार)

अब वेदारम्भ संस्कार का वर्ण करते हैं। उपनयन संस्कार के पश्चात ही याग, यज्ञादि सभी प्रकार कर्म करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है

उन्हें वेद पढ़ना अत्यावश्यक होता है। वेदारम्भ का अभिप्राय यही है कि वेदादिसत्य शास्त्रों के अध्ययन, मनन और प्रचार का कार्य प्रारम्भ करना होता है अतः वेदारम्भ संस्कार में उपनयन संस्कार का प्रायः सभी प्रकरण आते हैं इसलिए उपनयन संस्कार को करके गायत्री महामंत्र के पूर्व निम्न मंत्र से तीन बार अहुति देना है। १७वाँ दर्पण के सभी कार्य करें। उसके पश्चात् उपनयन संस्कार के प्रतिज्ञा और व्रताआदि सभी कर्म करें। गायत्री से पूर्व निम्न लिखा हुआ गायत्री मंत्र के तीन अवस्था को पृथक जानकारी करें। तीन का महत्व उपनयन धारण मंत्र में विषद्-रूप से दिया हुआ है। वहीं पर इसका अर्थ देखें।

अब गायत्री प्रदान मन्त्राहुति यथा :—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम् स्वाहा। इदं श्रीगुरवे। इदन्नमम।

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि स्वाहा॥ इदं श्री गुरवे। इदन्नमम॥

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात् स्वाहा॥ इदं श्री गुरवे। इदन्नमम॥ यजु०३६।३।

अब कम से कम तीन बार गायत्री की आहुति देकर १७वाँ दर्पण के अनुसार समस्त कार्य पूर्ववत पूर्ण करें।

॥ इति वेदारम्भ संस्कार दर्पण॥

।३२। द्वात्रिंश दर्पणः । (१२-समावर्त्तन संस्कार)

अब समावर्तन संस्कार का वर्णन करते हैं। सम+आवर्तन=समावर्तन अर्थात् निरन्तर उपनयन संस्कारादि के पश्चात् ब्रह्मचारी तथा

ब्रह्मचारिणी शिक्षा-दीक्षा लेकर विशेष प्रकार ज्ञान-विज्ञान युक्त व्रतनिष्ठ विद्या, बुद्धि, यश, बल, कीर्ति आदि के साथ डिग्री या उपाधि को प्राप्त किया है। उस अवस्था से स्नातक उपाधि पाकर अब अपने परिवार, समाज, जन्मभूमि के सेवा के लिए पधार रहा है। जब गुरु के पास से या शिक्षागार से बराबर पितृ-मातृ स्थान पर आयेगा तब देश-धर्म को ऊँचा करने के लिए वहाँ से आशीर्वाद लेकर अयेगा। उसे ही समावर्तन संस्कार कहा जाता है। तभी जाकर गृहस्थाश्रम में सफल होवेगा। गृहस्थ आश्रम में जाने से पहले अपने पिता-माता, स्त्री आदि के सेवा के लिए अन्न, फल, वस्त्र, निवास आदि का कार्य-व्यवस्था करेगा। यदि इन व्यवस्था में ब्रह्मचारी सफलता को नहीं दिखाता तो अपने भविष्य जीवन अन्धकारमय रहेगा। जो ब्रह्मचारी पितृ-मातृ उपार्जित धन के ऊपर निर्भर शील अथवा श्वास-श्वसुर आलय के कौतुक से अपने भविष्य को उज्जवल करने का उपाय सोचेगा सो वह पौरूषत्वहीन कहलायेगा। वह सिंह के सम सर्वोत्तम कार्य में उछल नहीं सकेगा। अतः समावर्तन संस्कार करके ही अपने आय, उपार्जन, समाज सेवा, राष्ट्र तथा धर्म के सर्वाङ्गिण कार्य में अपना श्रेय पथ का चुनाव करेगा। नौकरी, चिकित्सा, व्यवसाय, शिक्षा, कला विद्या, शस्त्र विद्या, शास्त्र विद्या, राजविद्या इत्यादि जिनके पास जो गुण, कर्म, कर्म स्वाभावादि हैं सो उसके अनुसार कार्य में लग जायें। अतः समावर्तन के पश्चात ही जीवन का एक महत्वपूर्ण अध्याय आरम्भ है। ऐसा समझना चाहिए।

अब गुरु को यथायोग्य सामर्थ अनुसार उत्तम वस्त्र तथा अन्य-२ साधन प्रदान करने के उपलक्ष से सभी प्रकार तैयार करें।

१७वाँ दर्पण के सभी कार्य करके गायत्री से पूर्व निम्नमंत्रों से आहुति देवें। मंत्र यथा—

ओ३म् पूर्वो जातो ब्राह्मणो ब्रह्मचारी धर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्चसर्वे अमृतेन साकम् स्वाहा ॥
इदं अमृतत्वाय । इदन्नमम ॥

ओ३म् ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रोह भूत्वासुरांस्ततर्ह स्वाहा ॥
इदं अमृतत्वाय । इदन्नमम ॥

ओ३म् आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गंभीरे पृथिवीं दिवंच ।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति स्वाहा ॥
इदं त्रिलोकाय । इदन्नमम ॥

ओ३म् इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवञ्च ।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरर्पिता भूवनानि विश्वास्वाहा ॥
इदं त्रिभूवनाय । इदन्न मम ॥

ओ३म् अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरूणः शितिङ्गो बृहच्छेपोनु भूमौ जभार ।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतःपृथिव्यातेन प्रदिशश्चतस्त्रः जीवन्ति
स्वाहा ॥ इदं चतुर्दिशाय । इदन्नमम ॥

ओ३म् ब्रह्मचारी ब्रह्मभ्राजद् बिभर्त्ति तस्मिन् देवा अधिविश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् स्वाहा ॥
इदं ब्रह्ममेधायै । इदन्नमम ॥ अथर्व० ११।५।५,७,८,६,१२,२४ ॥

इन मन्त्रों से ब्रह्मचारी व्रतनिष्ठ आहुति दिया है जिससे पहले उपनयन संस्कार तथा वेदारम्भ संस्कारों से ब्रह्मचर्य उपाधि, विद्या, बुद्धि, ज्ञान, विवेक, योग, तप, साधना, मुक्ति के उपायादि जो कुछ भी उपदेश पाया है सो उसके द्वारा यह ब्रह्माण्ड को परम ईष्ट स्थान मानकर लोक

लोकान्तरों के सारे ऐश्वर्यों का सञ्चय करेगा और अग्नि जिस प्रकार समिधा को धारण कर सर्वत्र प्रकाश करती है ठीक उसी प्रकार, चाहे भिक्षा माँगना हो, अर्थात् दुनिया के सभी से सहायता लेकर भी व्यक्ति परिवार, समाज, राष्ट्र और धर्म के कार्यों की प्रगति निरन्तर ही करता रहे जिससे अज्ञान अन्धकार वेकारी आदि न रहे ॥

इसके बाद १७वाँ दर्पण के गायत्री से तीन आहुति और पूर्ववत सारे कार्यों का समापन करें।

॥ इति समावर्तन संस्कार दर्पण ॥

।३३। त्रयत्रिंश दर्पणः (१३-विवाह संस्कार)

अब हम विवाह संस्कार का वर्णन करते हैं। विवाह शब्द के श्रवण मात्र से ही सभी को ज्ञान हो जाता है कि यह कार्य क्या है?—परन्तु मूलतः ६६ प्रतिशत व्यक्ति को पता ही नहीं कि विवाह का वास्तविक स्वरूप क्या है? लोग कहते हैं कि विवाह से वंश की परम्परा की रक्षा होती है। मैं कहता हूँ कि विवाह से ही वंश परम्परा की रक्षा नहीं होती बल्कि वंश का नाश भी हो सकता है। अतः विवाह से वंश परम्परा की वास्तविक *सद्गति* को समझना चाहिए। विवाह शब्द ही एक महत्वपूर्ण अर्थ प्रदान करता है।

"वि" उपसर्ग है। इसका अर्थ विशेष प्रकार से उत्सर्ग करना व्याकरण में 'वह' धातु है, इसका अर्थ है ले जाना या वहन करना अथवा ढोना अर्थात् विशेष प्रकार से अन्न, जल, वस्त्र, निवास, विद्या, ज्ञान, विवेक, ऐश्वर्य, व्यक्ति, समाज, परिवार, राष्ट्र और धर्म को विशेष प्रकार से लेकर चलने का सामर्थ्य रखते हैं उसे ही विवाह कहते हैं। इससे अतिरिक्त प्रत्येक प्राणी मात्र ही अपनी उम्र के अनुसार मिलन से ही

सन्तानादि वंश का विस्तार होता रहता है। यह एक साधारण नियम है। इसमें कोई व्यवधान नहीं है। मनुष्य जीवन का व्यवधान केवल संस्कार ही विशेष अवस्था को प्राप्त कराता है। संस्कार की विशेष अवस्था को ही विवाह कहते हैं। विवाह का पहला स्वरूप यह है कि पति अपनी पत्नी को दूसरे घर से लाकर एक नये अवस्था को प्राप्त करके नयी दुनियाँ बसाता है। बात तो सरल है परन्तु नयी दुनियाँ बसाने के लिए विद्या, बुद्धि, यश, बल, ऐश्वर्य, सम-शक्ति, आयु, स्वस्थता, सौन्दर्य, अन्न, जल, वस्त्र, विनय वाक्य गृह के पिता-माता, भाई-बिरादरी, सम्पदा इत्यादि सभी कुछ एक से दूसरे का सम्बन्ध है। जब इसका उत्तम संयोग है तब उत्तम वंश के विस्तार के बारे में कल्पना कर सकता है। अन्यथा पशु के सम जीवन बनेगा। इसलिए विवाह से पूर्व सभी कुछ समझना चाहिए। अन्यथा स्वर्ग के परिवर्तन में नरक की यंत्रणा भोगेगा।

यह एक साधारण नियम है कि—उत्तम निरोग युक्त वृक्ष या फसल का ही बीज रखते हैं, सूर्य के प्रकाश से तपाया हुआ बीज ही उत्तम फसल के लिए कार्य में आता है। गृहस्थाश्रम भी उसी प्रकार है। अल्पायु, रोगयुक्त, अपरिपक्व बीज हीं फसल या वृक्षादि के वंश का पतन कर देता है। वैसा ही अपरिपक्व ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियों के दाम्पत्य जीवन में वंश का पतन ही करता है। इसलिए कम से कम १६ वर्ष की पत्नी और २० वर्ष के पति का ऊमर होना निम्न स्तर का विवाह होता है। उसमें भी यदि ब्रह्मचर्य शक्ति पहले खोया या मैथुनादि से वीर्य योनि का खत किया हो तो पतन के लिए और कहना ही क्या ? तभी जाकर थोड़े ही उम्र में विवाह से पूर्व ही नपुंशकता को शीघ्र प्राप्त कर लेता है और रोग, दुर्बलता, क्षीणता, अल्पायु युक्त वंश परम्परा का निर्माण कर लेता है। कोई किसी से गृहस्थ आश्रम से सन्तुष्ट नहीं हो

पाता। वास्तविकता को गोपन रखकर युवावस्था खेल-खेल में धोखा दारी से विवाह और तलाक देने का उपाय ढुढ़ता रहता है। यहाँ पर ही गृहस्थाश्रम की दुरावस्था का प्रारम्भ होता है। परस्पर झगड़ा, विवाद, अशान्ति का मूल वीज वो बैठता है। परिवार के सभी उसमें फँस कर रोना-धोना को छोड़ कर और कुछ नहीं होता। अतः विवाह से पहले यह बात सोच लें जिससे दूसरों को कष्ट न पहुँचे। उत्तम परिपक्व वीर्यशक्ति, रज, निरोग, समानता, रंग, विद्या, बुद्धि, यश, बल वंश, दुरत्व, धर्म, गुण, कर्म, स्वभावादि का यदि पहले विचार करके शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सन्तोष नहीं कर पाता तव गृहस्थ आश्रम को अच्छी प्रकार चलाने की भावना ही मूर्खतापूर्ण होगी। अधिक भूख में भूखा उठ जाना ही दुःख का कारण है। जब सारी उम्र अच्छी प्रकार विचार पूर्वक काम लिया जाय तब तो स्वर्ग ही स्वर्ग है। इसके उल्टा ही नरक है। इससे ही वंश का नाश होता है।

कन्या का एक नाम दुहिता 'दूरे *हिता*' अर्थात् वर-कन्या का निवास परिचय, वंश का दूरत्व ही हित या कल्याण है। दूर में पिता-माता रहने से ज्यादा आवागमन नहीं होता। छोटी-छोटी घटना, झगड़ा निंदा इत्यादि के शीघ्रता से आदान-प्रदान नहीं होता। उसमें रिस्ते का अच्छा प्रभाव रहता है अन्यथा छोटी-मोटी घटनाओं के रोजाना आदान-प्रदान से कोई किसी की साधारण बातें सहन नहीं करता है। तुरन्त झगड़ा, कलह, विवाद ऊछलके भाग जाना इत्यादि वातावरण में फँस जाता है। दूर रहने से वाद-विवाद, कलह आदि घटनाएँ का पचन हो जाता है। अपच ही कलह विबाद का मूल कारण होता है। निकट का परिचय से परस्पर अश्रद्धा होती है। गहरा प्रेम नहीं होता। हँसी मजाक का जीवन रहता है। एक दूसरों की तुरन्त बुराइयाँ करते हैं जिससे कह

भी न सके और सहन भी न होवे। नजदीक के वंश या रक्त का निकट सम्बन्ध जितना ज्यादा रहेगा सो उतना ही लुला-लंगड़ा, अन्धा-काना खोंड़ा, मूर्ख, कामुक, क्रोध, दुराचारी, अमान्यकारी, दुष्ट प्रकृति की सन्तानें या वंश परम्परा की निर्माण होगा। यह एक उज्वल उदाहरण हैं कि—इतिहासों से ही पता लगता है, जिस प्रकार मुसलमानों में देख सकते हैं। उनका रिश्ता नजदीक से भी नजदीक होने से सभी समस्यायें उनमें ज्यादा है। अतः इससे सर्वदा सावधान रहें।

तिथि, नक्षत्र, देवता, वार, महिना, क्षण, योग इत्यादि में लोग ज्यादा जोड़-तोड़ करते हैं। उसमें आने जाने की समस्या में या संयोग मूहूर्त का तालमेल वन नहीं पाता। मूहूर्त का संयोग या तिथि नक्षत्रादि का योगा-योग थोड़ी देर का ही होता है और विवाह कार्य में घण्टों बीत जाता है। विवाह तो पहले मूहूर्त को दिखाकर आरम्भ करता है लेकिन मुख्य कार्य में आगे चलकर दूसरे तिथि नक्षत, देवता मूहूर्त का लगातार आने से उसमे कोई रूकावट नहीं हो सकती। इसके पीछे बहुत बड़ी गड़बड़ी भी हो जाती है इसलिए मासिक का ठीक योगायोग नहीं हो पाता। उसमें वर-बधू के असंयम से गर्भाधान संस्कार भी विधिवत नहीं होता। केवल व्यर्थ विषय-भोग ही होता है।

अतः विवाह में गृहस्थाश्रम का महत्व है उत्तम सन्तान। इसलिए नाना दिशाओं में ज्योतिषि और तिथि, नक्षत्र, वार, देवतादि के फेरे में न पड़कर उभय पक्ष के समय की सुविधा-आवागमन की सुव्यावस्था, इष्ट मित्र के कार्य-अवकाश की सुविधा, विवाह सम्बन्धी आवश्यक द्रव्यों के सुलभ और विशेष करके कन्या के मासिक धर्म से चतुर्थ रात्रि के बाद से १०।१२ रात्रि तक कोई शुभ दिन लेवें। जिसमें विवाह के दिन ही गर्भाधान संस्कार भी कर लेवें। अन्यथा लोग कामाचारवस शरीर के

प्रथम रक्त-बीर्य का उत्तम सन्तान के उद्देश्य से प्रयोग नहीं कर पाते। हँसी-मजाक और खेल-खेल में गृहस्थाश्रम का उद्देश्य को खो बैठते हैं। विवाह से पहले वर-कन्या को अच्छी प्रकार इस विषय की जानकारी रखनी चाहिए। अन्यथा वे निश्चित रूप से पशु के सम आचरण करने लग जाते हैं। विवाह के दिन परिचय करने के लिए पहले कन्या से मासिक धर्म के अनुसार दिन का निश्चय करें। उसके पश्चात् १०।१२ दिनों में कोई उपयुक्त समय या दिन निश्चित करें। इसे गर्भाधान संस्कार में देख लेवें।

विवाह का समय दिन में या सन्ध्या के गोधुली वेला में होना सभी के लिए उत्तम है। ज्यादा रात्रि होना, जागरण से सभी का अस्वस्थ होना, पेट खराब होना, इष्ट मित्रों को विवाह के पश्चात सुव्यवस्था न कर पाना, यातायात में अव्यवस्था होना, सामानादि के प्रति चिन्ता होना, चोरी डकैति का भय रहना इत्यादि नाना कारणों से विवाह के पश्चात् जैसा कि शादी में बरवादी तथा नाना प्रकार की अव्यवस्था से हृदय रोग, चिन्ता-रोग भी होने लग जाता है। यह कार्य ही सभी के लिए उत्साह युक्त है किन्तु विवाह के बाद सभी को स्वार्थ चिन्ता आदि में डुबे रहना पड़ता है। इस स्थिति में किसी को भी देखने का या सेवा-सत्कार का अवसर नहीं रह पाता।

जैसे—कृषक जिस प्रकार का अन्न चाहते है ठीक उसी प्रकार बीज बो करके ठीक वही फसल पाता है। वेद में भी ये ही बाते कहते है कि गृहस्थ लोग जैसा सन्तान चाहते हो उसी प्रकार की सन्तान उत्पन्न कर सकते हो। इसमें कोई भी विकल्प की बात नहीं होती। पुरुषार्थ से बीज बोकर ही उस फसल की रक्षा करते हैं। उदाहरण जिस प्रकार—

ओ३म् अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥
ऋ० १०।१२५।५॥

इसमें ईश्वर का उपदेश है कि हे मनुष्य ! मैं स्वयं यह कहता हूँ कि तुमलोग जो-जो कामना करते हो उसके अनुसार चाहो तो ब्राह्मण, ऋषि, उत्तम ज्ञानी, मुनि आदि सन्तान सो वही तुम्हें प्राप्त करा देता हूँ। तुम्हारे गुण, कर्म, स्वभाव, युक्त जैसी शक्ति उत्पन्न करो सो वैसे ही मैं तुम्हें प्राप्त करा देता हूँ।

अब नये दाम्पत्य जीवन में स्वामी-स्त्री यदि यह सोच लेवें कि पहले-पहले विवाह हुआ तो कुछ दिन आनन्द कर लेवें। बाद में सन्तान के बारे में सोच लिया जायेगा। तब ऐसी अवस्था में बिना निश्चय से यदि दैव चक्र में सन्तान हो भी जाये तो वह सन्तान भी अनिश्चित दैव योग से ही पिता-माता की सेवा करेगी। इस प्रकार व्यवहार से आदर्श परिवार और वंश परम्परा की सुरक्षा नहीं होती।

अब पूर्व निश्चित विवाह के अनुसार उस दिन वर और कन्या दोनों पक्षों को चाहिए कि १७ वाँ दर्पण के विधि अनुसार यज्ञ करके ही चलें। घर पर अन्यथा विवाह मण्डप में आकर सभी कार्य करें। उपयुक्त समय के अनुसार विवाह मण्डप में उपस्थित हो कर आचमनादि करें। वर-बधु उभय ही आचमनादि से शुद्ध होकर बधु-वर को मधुपर्क से स्वागत करे। जितना घृत हो सो उससे तीन गुणा मधु मिलाने से मधुपर्क होता है। *कन्या के पिता पहले मधु पर्क के पात्र को निम्न मन्त्र बोलकर कन्या के हाथ पर देवें।*

पिता—"ओ३म् यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः। एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूर्तिं नियच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ अथर्व १०।३।२१॥

हे कन्या ! शक्ति का श्रेय है एक मात्र घृत एवं वनस्पति का श्रेय है मधू का सम्मिश्रण । उभय का मिलन होनेसे मधुपर्क सोमरूप यश, कीर्ति, ऐश्वर्यों को बताने वाला होता हुआ मुक्तानन्द की तरफ ले चलता है । इसलिए मधुपर्क से वरण करना ही मणि के सम आनन्द दायक है ।

अब मधुपर्क को बड़ी मधुरता से प्यार के साथ कन्यावर को देवें । वर भी निम्न मन्त्र के साथ पहले जिह्वा के अगले भाग में चम्मच से लेवें और मधु के स्वाद को मधुरता से जिह्वामूल-कण्ठ-हृदय पर्यन्त अनुभव करें । उसके साथ-साथ चित्त में विचार करे कि आज से हमारे वाणी, कण्ठ, हृदय और मस्तिषक मधु के सम हो ।

मधु पर्क प्रदान मन्त्र यथा—

कन्या—ओ३म् जिह्वाया अग्रे मधुमे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो ममचित्तमुपायसि ॥ अथ० १।३४।२॥

अब वर बधू के मधुमय पुष्ट कारक स्वाद को वाणी, कण्ठ, हृदय तक पहुँचाने के बाद अपनी बधु को आश्वासन निम्न मन्त्र के द्वारा दे कि हे बधु ! आज से तुम्हारे साथ मैं सारा जीवन इसी प्रकार मन, वचन, कण्ठ, हृदय और विचार धारा से तुम्हारी रक्षा करूँगा । हमारा आना-जाना तुम्हारे लिए सर्वदा मधुमय रहेगा ।

वर—ओ३म् मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमत् भूयासं मधुसन्दृशः ॥ अथ १।३४।३॥

अब वर तथा कन्या परस्पर इस श्रेय भावना को देखते हुए बड़े प्रसन्न चित्त से *अपने कान्या को वर के हाथ में निम्न मन्त्र बोलकर अर्पण करेंगे ।*

कन्यादान—ओ३म् तत् सत् श्री ब्रह्मणे अधुना शुभ मुहूर्तं ।

(गोत्र उच्चारण करके)

गोत्रोत्पन्नामिमां । (कन्या का नाम उच्चारण करके)

अलंकृतां कन्यां । वैवाहिक पाणिग्रहण संस्कार करणाय भवन्तं समर्पितम् प्रति गृन्हातु भवान् ॥

वर—ॐ प्रति गृन्हामि ॥

इस वाक्य को बोलकर वर-बधू को सादर ग्रहण करेगा और निम्न मन्त्र बोलकर वर पक्ष से बधू को देने योग्य उपकरण आदि देते रहेंगे ॥ पहले वस्त्रादि देना चाहिए उसके पश्चात् अन्य वस्तुएँ ।

वर—ॐ यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषेत्वम् ।
शिवं ते तन्वेऽतत्कृणमः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्ममस्तुते ॥
अथर्व० ८।२।१६ ।

देने योग्य पदार्थों अलंकारादि सभी कुछ देकर *निम्न मन्त्र से वर अपनी बधु को आश्वासन देगा* कि हे देवी—जब तक मैं जीवित रहूँगा तब तक तुम्हारी आजीवन सेवा करता रहूँगा जिससे तुम्हें कोई कष्ट न पहुँचे ।

ॐ आरभस्वेमाम् अमृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तुते ।
असुन्त आयुः पुनराभरामि रजस्तमो मोप गामा प्रमेष्ठाः ॥
अथर्व० ८।२।१ ॥

अब वर और बधू उभय ही मिलकर निम्न मन्त्र से प्रतीज्ञा करें कि हम दोनों परस्पर आजीवन एक मन, हृदय वाले बनकर निभायेंगे और कल्याणमय जीवन बनावेंगे ।

वर-बधु—ॐ समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातुनौ ॥
ऋ० १०।८५।४७ ॥

अब वर अकेला खड़ा होकर बधू के सामने जाये और आसन में बैठी हुई बधू के दक्षिण-हस्त के पञ्जा को पकड़के ऊपर उठाने के लिए प्रतीज्ञा करते हैं कि हे देवी तुम उठो एवं हम आज से मिलकर चलेंगे। हम जब तक जीवित हैं तब तक एक दूसरे का सहारा रहेंगे। यौवन, धनैश्वर्य, धर्म, सुख, शान्ति आदि से भरपूर होकर हम प्रजा आदि की वंश परम्परा की सुरक्षा करते रहेंगे। उठो—चलो ! हे देवी—पहले इस प्रतिज्ञा के साथ यज्ञ कुण्ड की परिक्रमा करते हैं। इस भावना से निम्न पाँच मन्त्रों के उच्चारण करके बधू को उठावे और यज्ञ कुण्ड की प्रदक्षिणा करें। बधू भी स्वामी के हाथ का सहारा लेकर ही उठे। दूसरों का सहारा न लेवें। परिक्रमा के साथ जलकुम्भधारी और प्रदीपधारी भी साथ-२ *अनुकरण परिक्रमा करें* ।

वर—ॐगृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।

ॐभगस्ते हस्तमग्रहीत सविता हस्तमग्रहीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥

ॐममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावति शंजीव शरदः शतम् ॥

ॐत्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कंबृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम्। तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परिधतां प्रजया ॥

ॐ इन्द्राग्नी-द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगोश्विनोभा। बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्मसोम इमां नारीं प्रजया बर्धयन्तु ॥

ऋ० १०।८५।३६ ॥ अथर्व० १४।१।५१-५४ ॥

अब एक बार परिक्रमा करके सभी आगन्तुकों को हाथ जोड़ नमस्कार करके १७ वाँ दर्पण के यज्ञ कार्य करें। सामान्य और विशेष यज्ञाहुति देकर गायत्री मन्त्र से पहले शिला रोहण करें।

शिलारोहण एक महत्वपूर्ण विषय है। आसन के सामने एक शिला रखें। बधू के दोनों पैर का पञ्जा शिला के ऊपर रख पूर्वाभिमुख होकर खड़े हों। वर भी वधू के पीछे पूर्वाभिमुख होकर खड़ा होगा। वर के दोनों पैरों के वृद्धाङ्गुली का फन्दा बधू के गोड़ाली में फंसा कर ही खड़ा हो। बर उभयपार्श्व से हाथ फैला कर अपने हस्ताञ्जली के द्वारा बधूके हस्ताञ्जली पकड़ लेवें। बधू को निम्न मन्त्र पाठ करके बोलें, कि हे देवी—आज से तुम पत्थर हो जाओ अर्थात् पत्थर में जिस प्रकार तेल, घृत, जल आदि कुछ भी अन्य पदार्थ प्रवेश नहीं करता उसी प्रकार ही मेरे भिन्न दुनिया के कोई भी रूप गुण-युक्त अन्य पुरुष तुम्हारे मन, बुद्धि और व्यवहार आदि के अन्दर मेरे स्थान में प्रवेश न करें। मैं ही तुम्हारी सभी प्रकार का बाधा-विघ्नों से रक्षा करूँगा। तुम आज से पत्थर के सम हो जाओ। जिस प्रकार पत्थर भले ही टूट जाय किन्तु कभी किसी के प्रभाव से झुकता नहीं। अतः भले ही प्राण चला जाय मैं तुम्हारे व्रतों के पीछे मैं सदा खड़ी रहूँगी।

ॐ एहि अश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम्॥ अ० २।१३।४॥

इसके पश्चात् प्रतीज्ञा का ज्ञान कराकर बधू की हस्ताञ्जली में पूर्ण करके भी गाया हुआ तोकमा दाना और लावा रखें उसकी तरफ दृष्टि भी रहे। धान जिस प्रकार देखने या खाने के प्रयोग में नहीं होता लेकिन जब आग के द्वारा बालू से भूँजा जाता है तब बड़ा सुन्दर रूप, शुभ्र वर्ण,

सात्विक, कोमल प्रकृति, हलका, मधुर, सुपाच्य बन जाता है। धान और तोक्मादाना से कई गुणा बड़ा रूप दिखने को मिल जाता है। धान-तोकमा के ऊपर का रूप अशोभनीय छिलका तुरन्त सफेद हो जाता है। अतः हे देवी! तुम्हारे हाथ का खोई अग्नि से बना। तुम और मैं मिलकर अपने जीवन की कठोर तपस्या से गार्हस्थ धर्म में एक दूसरें के सहयोग से खोई के सम खिले हुए रहेंगे। हमारा जीवनादर्श दुनिया के सामने कई गुणा बढ़के सात्विक भावनाओं से विकसित होगा। इस भावना से खोई को एक साथ अग्नि के अन्दर अर्पण करे। मन्त्र वर-बधू दोनों मिलकर बोलते हुए तीन बार लावाहुति देवें। प्रत्येक आहुति के पश्चात बधू के दायां हाथ बर पकड़के यज्ञ कुण्ड परिक्रमा करे। दीपकधारी जल-कुम्भधारी भी पीछे अनुक्रमा करे।

लाजाहुति—ओ३म् दीक्षायै रूपं पष्पाणि प्रायणीयस्य तोक्मानि ॥
क्रयस्य रूपं सोमस्य लाजाः सोमांशवो मधुस्वाहा ।

ओ३म् तदस्य रूपममृतं शचीभिस्तिस्रो दधुर्देवताः संरराणः ।
लोमानि शष्पैर्बहुधा न तोकम भिस्त्वगस्य मांसमभवन्न लाजा ।
य० १६।१३।८१।

ओ३म् तुभ्य मग्रे पर्यवहन्त सूर्यां वहतुनासह ।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह स्वाहा ॥ऋ०१०।८५।३८॥

इसके बाद सप्तपदी गमन और ग्रन्थी बन्धन करें। बर-बधू के उत्तरीय वस्त्र में असंख रूई के रेषा या तन्तुयें है। उससे ताना-बना जोड़कर ही वस्त्र बना है। वस्त्र में गाँठे इसलिए बन्धेगा जिसमें उसे शिक्षा लेना है कि हम दोनों पति-पत्नी संग्रह करके गाँठ बान्धेंगे जीवन में कभी अपव्यय नहीं करेंगे और खराब वस्तुएँ भी नहीं बाँधेंगे। तभी

जाकर सप्त नदी, सप्त समुद्र के सप्त धारा सदृश्य हमारे पाँच ज्ञानेन्द्रिया तथा मन, बुद्धि मिलकर सप्त धाराओं में विधि व्यवस्था से गति विधि कर सकेंगे। इसलिए इसके नमुना को पहचानना चाहिए। अतः *ग्रन्थि में स्वात्विक अन्न, रंग, मेवयाँ तिल, दाले, रुपये आदि धातुएँ बंधन करके कन्धे के ऊपर डाल देवें।* तत्पश्चात पति-पत्नि उभय दोनों हाथों में हाथ का पञ्जा पकड़ कर *निम्न मन्त्र से ७ पैर या कदम चलकर अष्टम ऐश्वर्य में अष्टम कमद में स्थित हों।* पति-पत्नी यज्ञ कुण्ड के उत्तर भाग में खड़े होकर पूर्वाभि मुख हो पूर्व दिशा को चलें।

ग्रन्थि वंथन सह सप्त पदी गमन—

ओ३म् पुरुदस्मो विषुरूप इन्दुरन्तर्महिमानञ्च धीरः।
एकपदीं, द्विपदीं, त्रिपदीं, चतुष्पदीं, पञ्चपदीं, षष्ठपदीं, सप्तपदीं,
अष्टापदीं भुवनानु प्रथन्तां स्वाहा॥ यजु० ८।३०।

केश बन्धन—अब अष्ट पद पर स्थित होकर अपने स्त्री के पीछे से पूर्वाभिमुख अपने हाथों से बड़े श्रद्धा-भक्ति से निम्न मन्त्र को बोलकर केश बन्धन करें। पहले के केश में कुछ सौन्दर्य बढ़ाने का उपकरण प्रदान करें। अर्थात् अपने हाथ से ही अलंकार आदि लगावें।

यहाँ पर मनोवैज्ञानिक उपकारिता है। जब पति का हाथ स्त्री के केश में लगता है तब जीवन के प्रारम्भ हस्त-स्पर्श बुद्धि, ज्ञान से विवेक के ऊपर उत्तम वाइब्रेशन उत्पन्न होता है। पति ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे देव! हम दोनों के परास्पर मिलन से तुम्हारे मस्तिष्क के सभी प्रकार के विचार धाराओं की सुव्यवस्था, सौन्दर्य आदि से हमारा जीवन अतीव शोभायमान रहेगा।

ॐबृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः शीर्षे केशाँ अकल्पयत् ।

तेनेमामश्विना नारीं पत्ये सं शोभयामसि ॥ अथ० १४/१/५५॥

अब वहीं पर वर अपनी स्त्री के सामने जाकर *अपने बहु को मांग करें । निम्न मन्त्र बोले कि हे देवी !* आज से मैं तुम्हारा सौभाग्य रूप सुन्दर पथ-प्रदर्शक हुआ । यह सिन्दूर तुम्हारे गृहस्थाश्रम का परिचय देता रहेगा । तुम दुनिया को इस रूप में ही देखते हुए निश्चिन्त होकर रहोगी । मैं तुम्हारे कपाल में सौभाग्य के उदय का टीका लगाता हूँ ।

सिन्दुर या टीका माँग धारण—

ॐसुमङ्गलीरियं वधुरिमां समेत पश्यत ।

सौभाग्यमस्यै दत्वा यथास्तं विपरेतन ॥ ऋ० १०।८५।३३ ॥

इसके बाद १७ वाँ दर्पण के गायत्री मन्त्र से तीन बार आहुति देवें और अवशिष्ट कार्य उसी प्रकार पूर्ववत पूर्ण करें ।

॥ इति विवाह संस्कार दर्पण ॥

वि० द्र० :—प्रश्न—वेदाश्रयी जी महाराज ! हम पण्डित लोग हैं । आपने हमारी रोटी रोजगार के सारे उपाय को नष्ट कर दिया है । इसमें हमारा क्या-क्या बनेगा ? हमारा तो रोजगार ही मारा गया ।

उत्तर—विवाह होंगे गृहस्थों का, उसमें अपना कैसे नुकसान समझ लिया है । खुलकर बता दो ।

प्रश्न—क्या-क्या बतावें महाराज ? सभी को मालुम है कि एक मारवाड़ी या धनवान के घर में शादी होने से हमारे दोनों तरफ से जेब, पोटला भर जाता । वर-बधुओं के उभय पक्ष से गोदान, वैतरणी, समुद्र, अवतरण, पितृ-उद्धार, देवार्चना, विमोचन इत्यादि नाना कार्य के कारण विवाह के मण्डप में ही हमारा भी थैला पूर्ण हो जाता है । उसमें

अलग-अलग दक्षिणा-वरण इत्यादि से मिलता ही रहता था। अब इसमें हमारा कुछ भी नहीं रहा। अन्त में भी दक्षिणा मिलेगी या नहीं सो उसका भी ठिकाना नहीं है। तो हमारा पेट कैसे पलेगा ?

उत्तर देखो ! घबड़ाओ मत। प्रत्येक आनुष्ठानिक कर्म में अन्त में ही एक बार दक्षिणा होती है। आदि में वरण के रूप में भी मिलेगा। विवाह हो या कोई भी आनुष्ठानिक कर्म हो, वह सुख-शांति तथा आनन्द के साथ ही कराया जाता है। गृहस्थ लोग सन्तुष्ट होकर बहुत कुछ दे सकते हैं। अब तुम्हारे इस व्यवहार से कर्म-काण्ड के बीच में ही नाना प्रकार के लेन-देन लेकर अशान्ति, झगड़ा, विवाद, पक्षपात इत्यादि नाना रूप से तुम लोग ही यह समस्या उत्पन्न कर देते हो। तुम्हारे द्वारा जनता में शान्ति स्थापना के बजाय अशान्ति हो जाती है। गृहस्थ लोग अपने लड़की-दामाद के लिए हित का सोचते हैं तो तुम लोग गुरु हो। तुम्हारे असन्तोष करने से उनका भी अकल्याण होगा। उन्हें भी पहले तुम ज्ञान का उपदेश करो जिससे वे लोग तुम्हें भी प्रचुर देवें।

प्रश्न :—लोग सीधे हाथों से देते ही नहीं। इसलिए हमारे गुरुजी का कहना है कि उसी समय नाना प्रकार की बहाना बाजी करके किसी प्रकार से निकाल ही लो। बाद में कुछ नहीं होता।

उत्तर देखो ! इस प्रकार व्यवहार से लोग निष्ठुर भाव धारण करते है। सभी स्थानों से लेना ही नहीं होता। देकर भी कार्य करना पड़ता है। तभी जाकर उस प्रकार व्यवहार से सुनाम, यश, ख्याति बढ़ती है।

प्रश्न :—गोदान को आपने क्यों हटाया ? उसमें हमको प्रचूर धन गोदान के नाम से मिल जाता था।

उत्तर :—गोदान कन्या-पक्ष से बर को करते हैं। तुम दूर्बा घास के गौ बनाकर दक्षिणा लेते हो। उसमें बर को क्या मिला ? गोदान ही

केवल नहीं। बहुत कुछ दान उभय-पक्ष से आदान-प्रदान करते हैं। अब उन दानों के पीछे तुम लोग भी दक्षिणा का चक्र, फेरा लगाना चाहते हो क्या ?

प्रश्न :—हमें भी तो उन दानों को देखकर जी ललचाता है ?

उत्तर :—इसलिए तुम लोग इस प्रकार रास्ता निकाले हो। यह रास्ता या उपाय धर्म के पथ को प्रशस्त करने के लिए नहीं है। उसमें नाना प्रकार अशान्ति होने से लोग दूसरे रास्ते में चलने लग जाते हैं। यह बात विशेष प्रकार स्थानीय गुरु लोगों को सोचना चाहिए। ऐसा भी हो सकता है वे लोग दुःखी हों इसलिए किसी प्रकार कार्य समाधान करने बैठते ही कलह, अशांति राग, द्वेष उत्पन्न करना ठीक नहीं है। इस प्रकार कभी भी ज्ञान, कर्म, उपासना के पथ पर अशान्ति उत्पन्न न हो सके इसके प्रति हमें विशेष प्रकार से ध्यान रखकर रूढ़िवाद को समाप्त कर देना चाहिए।

प्रश्न—जहाँ पर प्रचूर धन व्यय होता है तो हमको क्यों नहीं देगा ?

उत्तर :—गृहस्थ लोग जब पुरोहित से प्रभावित होंगे तो तुम्हें भी बहुत कुछ देंगे। अन्यथा उनका अकल्याण होता है। तुम्हारा उन पर दबाव और भय दिखा कर लेने का अधिकार नहीं है। श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, स्नेह युक्त भावनाओं से परिपूर्ण होते हुए दान पारमार्थिक फल प्रदान करता है। इस प्रकार उन्हें समझा देने से तुम्हारे लिए भी व्यवस्था करेंगे।

।३४। चतुस्त्रिंश दर्पणः । (१४-गृहस्थ संस्कार)

अब हम गृहस्थ धर्म का वर्णन करते हैं। गृहस्थ आश्रम ही व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और धर्म का मेरुदण्ड है। इसके बिना कोई भी मनुष्य स्थिर नहीं हो सकता। यह आश्रम समुद्र के समान है। सभी नदी नाले आदि जिस प्रकार समुद्र में मिलकर ही शान्त होते हैं ठीक उसी

प्रकार ब्रह्मचारी, वानप्रस्थि, सन्यासी भी गृहस्थों के सत्कार से शान्त, स्थिर हो जाता है अर्थात् सभी का स्रोत गृहस्थ में आकर समुद्र के समान मिलता है। उसमें किसी का खारा पानी, किसी का गन्दा पानी, किसी का मीठा पानी सभी कुछ गृहस्थ में ही अर्पण करता है और सूर्य भगवान भी समुद्र से तत्व संग्रह करके दुनिया की श्री वृद्धि करता है। गृहस्थों के पास केवल मनुष्य ही नहीं प्राणी मात्र के ही सेवा, सत्कार से आश्रित होता है अतः यह एक महत्वपूर्ण नियम श्रृङ्खला से परिपूर्ण होने से यह स्वर्गाश्रम है। यदि धर्म, कर्म, नित्य-श्रृङ्खला नहीं है तो यह नरकाश्रम है। इसलिए गृहस्थाश्रम के साथ सभी कुछ ताना-वानाओं के नियम विधि व्यवस्था है। जिसे निम्न प्रकार का विधि व्यवस्था का आचरण में फलवती करना है। यथा—

(१) सर्व प्रथम "शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्" शरीर ही सभी कर्मों का मूल है। इसे ठीक रखने के लिए स्वामी-स्त्री को स्वस्थ शरीर रखना है। (२) स्वस्थता के लिए रेत-वीर्य को उत्तम रूप से धारण करना है। "मरणं विन्दु पातेन जीवनं विन्दु धारणम्" जब शरीर का वीर्य विन्दु रूप से पतन हो, गिर जावे या मानसिक चिन्तनादि से ह्रास होवें तब समझना चाहिए कि रेत-वीर्य ही नहीं जा रहा है मानों मृत्यु ही आ रही। जब वीर्य-रेत को रोजाना धारण कर लेता है तब मानो वीर्य ही नहीं वह तो जीवन ही जीवन पा रहा है अर्थात् दीर्घायु को प्राप्त करता है। (३) आदर्श कृषक ही आदर्श गृहस्थ होता है। वेद का वचन है कि —"कृषिवत् जुषस्व" हे मनुष्य! कृषकों के सम केवल उत्तम फसल के उद्देश्य से ही बीज वपन भिन्न और व्यर्थ बीजा नहीं बोता। उस प्रकार गृहस्थ को भी सन्तान के उपलक्ष से स्त्री के साथ वर्ताव करना चाहिए। (४) स्वामी स्त्री उभय को ही धार्मिक, सदाचारी, योगाभ्यासी, परो-

पकारी समाज सेवी होना चाहिए। (५) स्वामी-स्त्री को सर्वदा परस्पर प्रेम, प्रीति, श्रद्धा, भक्ति, सम्मान और मिष्ट भाषी होनी चाहिए। (६) उत्तम खान-पान से उत्तम वीर्य होता है। जो भी खावे सो उससे ही वीर्य बनेगा। अपने शरीर के अन्दर मछली, मांस, अण्डे, भेड़, बकड़ी, पक्षी आदि के आहार से उसका ही विटामिन शक्ति या परमाणु अपने मनुष्य शरीर के धातु से मिलकर वर्ण शंकर भाव धारा की वृत्ति और आचार-व्यवहार, चाल-चलन, विषय-भोग आदि सभी कुछ बिगड़ जायगा। बाद में वंश का ध्यान या प्रधानता को नहीं दे पाता। पशुओं के समान माँ, बहन, भाई, स्त्री आदि का भी वर्ण शंकर वृत्ति से दोषित विचार होने से दूर नहीं समझ पाता। मन के इतना गिराकर अव्यवस्था उत्पन्न करता है। (७) हँसी-मजाक से भी सन्तान के सामने कोई गोपन व्यवहार न करें। उससे सन्तान के वृत्ति और आगे चलकर पिता-माता के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होती है। (८) सन्तान को कभी भी मिथ्या-भूत प्रेत आदि के नाम से डर पैदा न करें उससे बच्चा हर अवस्था में डरने लग जाता है। (९) सन्तान को उत्पन्न करने से पहले ही गर्भाधान संस्कार के उत्तम नियम अनुसार स्वामी-स्त्री को वर्ताव करना चाहिए। (१०) गर्भवती स्त्री के साथ कभी पुरुष विषय भोग सम्बन्धी चेष्टा नहीं करें। उसमें काम उद्वेग से गर्भाशय में तनाव कम्पन होता है। वहीं लुप्त तनाव, जरायु से सन्तानों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। सन्तान प्रसव होने के बाद महिना दो महिनें के अन्दर ही देखेंगे कि बच्चों के मूत्र इन्द्रियों में तनाव होता है, वह तनाव वीर्य शक्ति के द्वारा ही होगा परन्तु एक दो महिना उमर के बच्चों को तो नहीं होना चाहिए था? अतः पिता-माता के अनुपयुक्त व्यवहार का ही यह दुष्परिणाम है क्यों कि सोते हुए या जागते हुए तुरन्त मुत्र-इन्द्रिय तनाव होना बच्चों का पितृ-मातृ दोष है

इसलिए ही जब अल्प उम्र में वीर्य होने के शुरुआत में ही अपनी शक्ति को बिगाड़ डालता है। थोड़े उम्र में न समझदारी व्यवहार से ही नपुंशकता को प्राप्त कर लेता है और भविष्य के उज्वलमय जीवन को खो बैठता है। (११) स्वामी स्त्री सदाचारी होने से घनाभाव नहीं होता और उल्टा-पुल्टा अभक्षणीय आहार भी नहीं करता। इससे धनसम्पत्ति केअपव्यय भी नहीं होता। (१२) धन के अभाव न रहने से बच्चों के निर्माण के लिए भी उत्तम रूप से व्यय कर सकेगा। अन्यथा टाना-खींचा गरीबी से बच्चों का जीवन भी निराश होता है। (१३) निराशयुक्त सन्तान से पिता-माता गृहस्थ आश्रम में सेवा सत्कार नहीं पायेगा। (१४) नित्य प्रति दिन प्रातः उठते और सायं सोते समय पिता-माता गुरुजनों के चरण स्पर्श करने से दिव्य. पवित्र, सत्कार, सेवा, माया, ममता का वातावरण बना रहता है। अन्यथा अश्रद्धा, अधार्मिक उछृंखलता, अमर्यादा, अयत्न, निर्मम व्यवहार आदि नित्य होता रहेगा। सन्तानों को भी वही शिक्षा मिलती रहेगी। वही गृहस्थाश्रम में दुःख का कारण बन जाता है। (१५) सन्तान के उन्नति के लिए मन्यु भावना से न्याय संगत अनुशासन अवश्य ही करना चाहिए। मन्यु भाव से अभिप्राय अपना हृदय तथा मनोभाव नहीं बिगड़ता। क्रोध से मन, बुद्धि और हृदय भाव बिगड़ जाने से अनुशासन का परिणाम अशुभ होता है। उसमें प्रतिशोध लेने का भाव उत्पन्न होता है। (१६) "मातृमान, पितृमान, आचार्यवान् पुरुषों वेदः" अर्थात पिता, माता, आचार्य गुरुओं के आचरणों से बच्चों में भी तुरन्त उत्तम प्रभाव पड़ता है। इसलिए चाहिए कि सभी बच्चों को अपना-२ उपदेश तथा मार्ग प्रदर्शन करते रहें। (१७) ब्रह्म मूहूर्त में ही सभी को उठना चाहिए। सूर्य उदय से एक घण्टा पूर्व और एक घण्टा बाद तक ब्रह्ममूहूर्त है। इसमें जागरण, प्रार्थना,

शौच, दन्त धावन, स्नान, व्यायाम, आसन, प्राणायाम, यज्ञादि, पञ्च महायज्ञ सभी कुछ विधिवत करने से मन, बुद्धि श्रेष्ठ कार्य में लगा रहता है अन्यथा बैठे रहने से व्यर्थ जवानी खो बैठते हैं। अन्त में जीवन ही निराशायुक्त होता है। (१८) स्वामी-स्त्री उभय को चाहिए कि एक दूसरे के कार्य में सहयोग करें। जब अपना जीवन ही एक उद्देश्य का है तब एक दूसरे के सहयोग से आदर, सत्कार, प्रेम, माया-ममता बना रहेगा, अन्यथा उपेक्षा होगी। (१९) अपने गोपनीय व्यवहार कभी दूसरों को नहीं बतावें। उसमें भविष्य अविश्वसनीय हो जाता है। पश्चात सन्तप्त होना पड़ता है। लज्जा, शंका, भय सर्वदा लगा रहता है। अतः उस प्रकार कार्य या आचरण ही न करें जिसे गोपन रखना है। (२०) सन्तान को सर्वदा सत्संगयुक्त उत्तम आचार्य के पास ही रखना चाहिए। (२१) घर के अच्छे कार्य में उभय मिलकर सहमति से ही कार्य सम्पन्न करने की चेष्टा रखनी चाहिए। परस्पर वैमनस्यता के कारण ही घर के उत्तम कार्य में बाधायें होती हैं। (२२) स्त्री-पुरुष सर्वदा देवी-देवता के सम समझने से दिव्य सन्तान ही उत्पन्न होती है। अपवित्र, नीच वंश, मूर्ख अयोग्य समझने से वैसी ही व्यर्थ-अयोग्य-नीच-मूर्ख सन्तान उत्पन्न होती है। (२३) स्वामी-स्त्री सन्तान के सामने झगड़ा-कलह-मार-पीट न करें। उसमें सन्तान बिगड़ती है और निष्ठूर, दुराचारी, दुर्बल, अशान्त भाव धारा की सन्तान होती हैं। (२४) गुरु-आचार्य गुरुजनादि के सेवा-सत्कार-दानादि जहाँ तक हो सके बच्चों के हाथों से कराने से सन्तान भी उत्साही, पुरुषार्थी समाज सेवी श्रद्धालु भक्ति भावना से परिपूर्ण रहता है। (२५) श्रेष्ठों की निन्दा युक्त वार्तालाप सन्तानों के सामने कभी भी न करें। (२६) सन्तान को हाथ धर-पकड़ कर जोर पूर्वक धक्का मारकर गाली-गलौज न करें। उसमें शारीरिक, मानसिक

तथा आत्मिक विकास नहीं होता। (२७) अपनी सन्तान के सम दूसरों के सन्तानों को देखने से परस्पर सौम्य, शान्त, पवित्र वातावरण का निर्माण होता है अन्यथा अशान्ति का वातावरण बना रहता है। (२८) उत्तेजनायुक्त तीव्र मसाले आदि का प्रयोग नहीं करें। उसमें रक्त के अन्दर दोष, गैस, रक्त चाप, हृदय रोग, अम्ल, पित्त के विकार पैदा होते हैं। शरीर के धातुओं में भी दुर्गन्ध, उग्र प्रकृति का निर्माण करता है। (२९) नशे-भांग-गाजा-तम्बाकु-मद आदि मादक द्रव्यों के सेवन नहीं करें। उसमें वंश का अधोपतन होता है। (३०) विद्वान-योगी-साधक-चरित्रवान पुरुषों का सत्कार करना चाहिए। उससे दिव्य शक्ति प्राप्त होती हैं। (३१) केवल देने के वृत्ति से मनुष्य देवता और लेने की वृत्ति से राक्षस कहलाता है। परस्पर मनन विचार करके लेन - देन करने से उत्तम मनुष्य बनता है। अतः उत्तम मनन करने वालों को ही मनुष्य कहा जा सकता है। (३२) गृहस्थ आश्रम में ईश्वर उपासना, योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्ययुक्त साधना, तप, उत्तम, स्वाध्याय, सत्गुरु के संग सर्वदा रखना चाहिए। ये ही जीवन मुक्तावस्था का उपाय है। (३३) 'संस्कार दर्पण' के पहले से १२वाँ दर्पण तक नित्यकर्म रूप में रोजाना प्रत्येक को ही आचरण के रूप में करना चाहिए। (३४) अपने शरीर से जितना दुर्गन्ध दूषित वायुमण्डल उत्पन्न होता है सो अन्ततः उतना तक का सुगन्ध आदि के लिए नित्य नैमित्विक अग्निहोत्र करना चाहिए। उससे प्रकृति का ऋण मुक्त होता है। यह एक पुण्य का कार्य है। (३५) ब्रह्म मूहुर्त में उठने के लिए अन्ततः १० बजे रात तक सो जाना चाहिए। व्यर्थ संस्कार के कारण लापरवाही से समय को खोकर १२, १ बजे तक सोते हैं, उससे प्रातः उठने में अव्यवस्था होती है। वही आदत दूसरों में भी पड़ने लगती है। अतः ऐसा व्यवहार न करें जिससे दूसरों में भी

ज्ञान होते हैं तब योग-साधना-तपोबल-उत्तम उपदेश आदि करने लग जाते हैं। इस अवस्था में साधारण जनता के अन्दर आदर, श्रद्धा-भक्ति प्रेम, सहानुभूति, सम्मान पाने लग जाता है। तब अपना पता, स्वार्थ, परिवार प्रेम, पक्षपात दोष घटने लग जाता है। सर्वत्र ही आवागमन का स्थान होने लग जाता हैं।

ऐसी अवस्था में व्यापक विचार बुद्धि ज्ञान के कारण "वसुधैव कुटुम्बकम्" कहने या समझने लग जाता है। अपना परिवार-परिजन, बन्धु-बान्धव का स्थान संसार को ही समझने लग जाता है। अपना तथा पराया भाव समाप्त होने लग जाता है। सभी लोग आदर-सत्कार, प्रेम-सद्भावना से पूजन करने लग जाते हैं। चारों तरफ जब गुण-गान, यश कीर्ति का वातावरण फैलने लग जाता है तब अपने घर से ज्यादा वैराग्य होता है। जितना ज्यादा घर-परिवार से दूर रहते हैं उतना ज्यादा ही घर वाले आत्मीय-सज्जन-रिस्तेदार लोग आकृष्ट होते हैं और अपने वंश का यश-गौरव-सौभाग्य मानने लग जाते हैं। इस प्रकार होने से अपने बच्चे-नाति-पोते भी भविष्य में जीवन का यह रास्ता पकड़ लेते हैं। वंश परम्परा की एक महान आदर्शमय सुपथ यात्रा समझकर आश्रम व्यवस्था को ग्रहण करने लग जाते हैं। अतः जो मनुष्य यह आश्रम व्यवस्था को अच्छी प्रकार निभायेगा उसके वंश परम्परा का सुनाम ही रहेगा। युवक तथा बच्चा भी आश्रम व्यवस्था के महत्व को समझने लगेगा। यही एक सुन्दर तथा सर्वोत्तम उपाय है कि अपने को श्रेष्ठ पथ पर चलाकर परिवार परिजनों को भी श्रेष्ठ पथ के प्रदर्शक बन कर संसार से चला जाय। यही वंश परम्परा की वास्तविक सद्गति है।

बुढ़ापा में ज्ञान-विवेक-साधना-तपादि छोड़कर जितने ही सुख-शान्ति पाने और दीर्घ दिन जीने को जी चाहेगा सो उतने ही बच्चे-पुत्र

बधू-नाति-पोते मरने की कामना करेंगे। बूढ़ा चला जाय तो अच्छा ही रहेगा। इस प्रकार वृद्ध जीवन अच्छा नहीं होता। मरण ही उत्तम होता है। यही विचार धारा सभी के मन में घर कर लेती है।

जब गृहस्थ आश्रम से वानप्रस्थ को धारण करना हो तब अपने जीवन संगिनी स्त्री को अपने प्यारे पुत्र के पास छोड़ देवें। यदि उसे भी तीव्र वैराग्य हो तो दोनों ही साथ चलने लग जावे। महिलायें भी अपना समाज सेवा-तप-साधना-योगाभ्यासादि सीखकर दूसरी महिलाओं को सुपथ प्रदर्शन करेगी। उनकी भी इस प्रकार आगे चलकर पृथक वानप्रस्थ आश्रम और प्रचार मण्डली तैयार हो जायगी।

वानप्रस्थ संस्कार के दिन आवश्यक नित्यकर्मादि करके शुद्ध-पवित्र निर्मल भावना के साथ महान जीवन निर्माण के लिए *१७वाँ दर्पण के सभी कार्य करें।* गायत्री मन्त्र से पूर्व निम्न मन्त्रों से आहुति देवें।

ओ३म् अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धेत्वा दीक्षितोऽअहम् स्वाहा ॥यजु० २०।२४॥
ओ३म् आ नयैतमारभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमाक्रमतां तृतीयम् स्वाहा ॥
॥ अथर्व० ९।५।१॥

अब निम्न मन्त्र पाठ के समय प्रत्येक स्वाहा स्थानों में आहुति देते रहना चाहिए।

ओ३म् आकूत्यै प्रयुजेऽअग्नये स्वाहा। मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा ॥
दीक्षायै तपसऽग्नये स्वाहा। सरस्वत्यै पुष्णेऽग्नये स्वाहा ॥
आपोदेवी बृहती विश्वशम्भुवो द्यावा पृथिवीऽउरोऽन्तरिक्ष।
बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा ॥

ओ३म् पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन् पुनः प्राणः पुनः आत्मामऽआगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन् । वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् स्वाहा ॥ यजु० ४।७,१५ ॥

ओ३म् अग्ने त्वंसुजागृहि वयंसुमन्दिषी महि ।
रक्षाणोऽअप्रयुच्छन् प्रबुधेनः पुनस्कृधि स्वाहा ॥ यजु० ४।१४ ॥

इसके बाद गायत्री मन्त्र के तीन आहुति और आगे का कार्य पूर्ववत् १७वाँ दर्पण के अनुसार समस्त कार्य समापन करें ।

॥ इति वानप्रस्त संकार दर्पण ॥

प्रश्न—वेदाश्रयी जी महाराज ! हमने अपने जीवन में जो सम्पत्ति कमायी है क्या लड़के बच्चों को यूँ ही सारी की सारी छोड़ आवे ?

उत्तर—जब ईश्वर को पकड़ लिया और महान बन गया है तो सम्पत्ति का मूल्य इसके सामने कुछ भी नहीं है ।

प्रश्न—महाराज जी ! शरीर के रक्त को जला करके धन कमाया है । उसे छोड़कर हम क्या खायें ? लड़के बच्चे तो उड़ा देगें ।

उत्तर—जब योग, तप, साधना, परोपकार, शिक्षा, सत् भावना, स्नेह, ईश्वर के गुण-गान, कीर्तन का प्रचार करोगे तब घर से भी उत्तम धन, दान, सेवा, सत्कार मिलता रहेगा । हाँ इतनी बात ध्यान रहे कि धर्म को भी एक पुत्र समझकर अपने कमाई का एक हिस्सा निकालकर भगवत् सेवा कार्य के लिए अर्पण करें । उससे अपनी भी आजिविका चलती रहेगी और अन्तकाल में वहीं आश्रम के हितार्थ लगा देवें । वर्तमान समय के अनुसार यह उपाय अतीव उत्तम है अन्यथा ज्यादा दुःख कष्ट उठाना पड़ता है । मन दुर्बल हो जाता है ।

।३६। षष्ठत्रिंश दर्पणः (१६-सन्यास संस्कार)

सन्यास संस्कार एक महत्वपूर्ण, अन्तिम, गुरुस्थानीय, जीवन मुक्तावस्था का संस्कार है। इसके पश्चात और जीवित अवस्था का संस्कार नहीं होता। अन्त्येष्ठि संस्कार अपना हाथ का नहीं है। वह दूसरे हाथ का संस्कार है। बाद में जो कुछ लोग कर लेवें उसका अपने पर कोई प्रभाव नहीं रहेगा। जब शरीर में आत्मा ही नहीं रहेगी तब क्या होगा—कौन जाने ! जन्म से मृत्यु का भी हाथ ईश्वर के विधान में है। अतः जीवित अवस्था में ही कुछ करना चाहिए। *"मृतात्परो कर्म नास्ति"* मरने के बाद नहीं। मृत्यु में जब सभी कुछ त्यागना ही होगा तो जीते जी सन्यास लेकर ही महान कर्म में क्यों न त्यागे? ऐसा दुर्भाग्य क्यों होने देवें? ईश्वर जितना सूक्ष्म है सो उसके विपरीत महान से भी महान है। सन्यास आश्रम भी त्याग की पराकाष्ठा है और ईश्वर को साथी बनाने से सारी दुनिया ही अपनी है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" यह बात तभी जाकर सिद्ध होती है जब छोटे-छोटे अवस्था या संस्कारों में न रहकर अर्थात् अपना बच्चा-नाति-पोता-परिजन-देश-भाषा इत्यादि के झगड़ा में न रहें। सारे विश्व को ही अपना समझें। संसार के सभी बच्चे अपने बच्चों के सम जाने। सभी ज्ञान-विज्ञान अपना स्रोत है। उसी अवस्था से सर्वरक्षक ईश्वर के नाम-गुण-कर्म-स्वभाव आदि को ग्रहण करना ही सन्यास कर्म है। *"यः सम्यक प्रकारेण न्यासति वर्जयति विन्यासयति इति सन्यासः"* जो अच्छे प्रकार विश्लेषण पूर्वक छोड़ देता है, त्याग देता है, उसे ही सन्यास कहते हैं।

जो वस्तु या पदार्थ अपवित्र है, उससे लोग घृणा करते हैं। अच्छाइयाँ ही हमेशा साथ देती हैं। अतः जो उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव युक्त

पुरुष है वही महान है। *"महश्चासौ आत्मा यस्य स महात्मा"* जिनका गुण-कर्म-स्वभाव-ज्ञान-विवेक उपासनादि महान या श्रेष्ठ हो उसे महात्मा कहते हैं। महान आत्मा से ही शिक्षा दीक्षा-उपदेश सत-संगादि करना चाहिए। जिनका खान-पान, आचार व्यवहार, चाल-चलन, रहन-सहन, विषय-भोग, पठन-पाठन अच्छा नहीं है और छल-कपट, धूर्तता, कुपथगामी, भ्रष्टाचारी होकर चले एवं योग तप साधना ईश्वर उपासना मे तीव्र विश्वास न हो उनके द्वारा कभी भी शिक्षा-दीक्षा-यज्ञादि उत्तम कर्म नहीं कराना चाहिए। इन लोगों के संगत से सर्वदा अहित ही होता है। मनमे साहस, बल, पराक्रम आदि नहीं होता। सर्वदा महान गुरु के सम ही शिष्य को बनना होता है।

अब सन्यासियों को इन बातों के प्रति सर्वदा विशेष ध्यान रखना चाहिए यथा—ईश्वर को पाना, आनुष्ठानिक उपसना, धर्मानुष्ठान, स्वावलम्बी सन्तोषी, ईश्वर भरोसा, मान-अपमान बोध, उपेक्षा, सदाचारी, सद्आहारी, सतसंगी, योगाभ्यासी, आध्यात्मिक मनन उपदेष्ठ, एकान्तवासी, धीर-स्थिर-शान्त-पवित्र-निर्मल-मिष्ठ भाषी इत्यादि गुणों में अवश्य ही रहना चाहिए।

अब व्रतधारी शुद्ध-पवित्र होकर *१७वाँ दर्पण के समस्त कार्यों को करके यज्ञाहुति के गायत्री मन्त्र से पूर्व निम्न मन्त्रों से आहुति* देवें। स्त्री के लिए स्वतंत्रता रहेगी। तीव्र वैराग्यता हो तो स्वामी के साथ भी निभा सकती है। इस प्रकार समझ कर सर्वदा प्रचार और साधना में सहयोगी बनकर रहें। अन्यथा प्रिय पुत्र के पास रहे।

ओ३म् अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम् स्वाहा॥

॥ यजु० २०।२४॥

अब निम्न मन्त्रों से यजमान *घृत-मधु मिश्रित आहुति देते रहें।* *अन्य लोग सामग्री आदि देवें।* निम्न मन्त्र में प्रत्येक *स्वाहा* स्थानों में आहुति देवें। यहाँ पर अग्नि को बहुत ज्यादा बढ़ा कर आहुतियाँ देते रहना चाहिए।

ओ३म् भुवपतये स्वाहा। भुवन पतये स्वाहा। भुतानांपतये स्वाहा। ओ३म् यत् ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवी मनु। तस्य नस्त्वं भुवस्पते संम्प्रयच्छ प्रजापते स्वाहा॥ ओ३म् ब्रह्महोता ब्रह्मयज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः। अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणऽन्तर्हितं हविः स्वाहा॥ ओ३म् ब्रह्मस्रुचो घृतवतीब्रह्मणा वेदिरुद्धिता। ब्रह्मयज्ञस्य तत्वंच ऋत्विजो ये हविष्कृतः। शमिताय स्वाहा॥ ओ३म् अंहोमुचे प्रभरेमनीषामा सुत्राव्णे सुमतिमा वृणानः। इममिन्द्र प्रतिहव्यं गृभाय सत्याः सन्तु यजमानस्यकामाः स्वाहा॥ ओ३म् अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथमध्वराणाम्। अपांनपातमश्विना हुवेधिय इन्द्रियेण त इन्द्रियं दत्तमोजः स्वाहा॥
॥ यजु० २।२॥ ॥ अथ० १०।५।४५॥ ॥ अथर्व० १६।४२।१-४॥

ओ३म् यत्रब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह। अग्निर्मातत्र नयत्वग्निर्मेधां दधातुमे अग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये इदन्नमम्॥ ओ३म् यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह। वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातुमे। वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे इदन्नमम॥ ओ३म् यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह। सूर्यो मा तत्र

नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे । सूर्याय स्वाहा । इदं सूर्याय । इदन्नमम ॥ ॐ यत्र चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे । चन्द्राय स्वाहा । इदं चन्द्राय । इदन्नमम ॥ ॐ यत्र सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे । सोमाय स्वाहा । इदं सोमाय । इदन्नमम ॥ ॐ इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे । इन्द्राय स्वाहा । इदं इन्द्राय । इदन्नमम ॥ ॐ यत्र आपो मा तत्र नयतु अमृतं मोपतिष्ठतु । अद्भ्यः स्वाहा । इदं अद्भ्यः ॥ इदन्नमम ॥ ॐ यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे । ब्रह्माय स्वाहा । इदं ब्रह्माय । इदन्नमम ॥ ॥ अथर्व० १९।४३।१-८ ॥

अब निम्न मन्त्रों से यजमान सन्यासी इस भावनाओं से युक्त होकर आहुतियाँ देवें जिसमें जन्म से लेकर आज तक विषय-भोग-परिश्रम तथा अपनी भूल-त्रुटियों के कारण सभी इन्द्रियाँ कलुषित-निस्तेज-निराशामय हो गयी हैं। अब नये जन्म में ज्ञानाग्नि में दग्ध होने के लिए उत्तम-सतेज-नवीन इन्द्रियों की आवश्यकता है। पुरानी चाल-चलन, गतिविधि आदि से कार्य नहीं होता है। अब *निम्न मन्त्रों से भी भात-घृत-माधु-मिष्ठ आदि उत्तम वस्तुओं की आहुति देवें।* सामग्री आदि दूसरे भी देते रहेंगे। प्रत्येक स्वाहा स्थानों में आहुति देते रहे।

ॐ चित्पतिर्मा पुनातु स्वाहा। वाक् पतिर्मा पुनातु स्वाहा। सूर्यस्य रश्मिभिःपूनातु स्वाहा ॥ ॐ वृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा । इदं वृहस्पतये । इदन्नमम । ॐ दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा ॥३॥

मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा ॥ ओँ पुनर्मनः ऽआगन् स्वाहा । पुनरायुर्मऽआगन् स्वाहा । पुनः प्राणः ऽआगन् स्वाहा । पुनरात्मामऽआगन् स्वाहा । पुनश्चक्षुर्मऽआगन् स्वाहा । पुनः प्राणः ऽआगन् स्वाहा । पुनः श्रोत्रंऽआगन् स्वाहा ॥ यजु० ४/४, ।७,१५॥

अब निम्न मन्त्रों का पाठ करके आहुति देते समय में एक बटलोई या बड़ी थाली में पानी भरकर उसके ऊपर सन्यासी खड़ा हो जावे एवं मन में यह धारण करें कि सूर्य जिस प्रकार पानी को ऊपर ले जाता है और वर्षा द्वारा सारे संसार की वृद्धि करता है, मैं भी इसी शीतल पानी में ठहर कर, शीतल-सौम्य-पवित्र-निर्मल भावनाओं के परमाणुओं से सारे ब्रह्माण्ड को शुद्ध-पवित्र-निर्मल और शान्त करूँगा। सर्वत्र नया जीवन प्राप्त कराऊँगा। सावित्री मन्त्र में ही सूर्य के सम तेज है। इस मन्त्र से ही सूर्य के सम विकसित करता हुआ प्रभु की शीतल छाया में ठहरा रमा हुआ रहूँगा।

ओँ भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् स्वाहा ॥
ओँ भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमही स्वाहा ॥
ओँ स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो योनः प्रचोदयात् स्वाहा ॥

अब उस प्रकार ही पानी के ऊपर खड़े रहकर ही अपनी व्रत प्रतीज्ञा कर लेवें। प्रभु के अनन्त ज्योतिर्मय *ज्ञान समुद्र में खड़े होकर अपने जीवन को गतिशील करने के लिए यह प्रतीज्ञा आहुति देते रहें। मन्त्र यथा :—*

ओँ भूः सन्यस्तं मया। ओँ भुवः सन्यस्तं मया। ओँ स्वः सन्यस्तं मया ॥

अब सन्यासी नवीन जीवन यात्रा में प्रथम *मधुपर्क के प्रति निम्न मन्त्र बोलकर दृष्टिपात करें।* मधु, दुग्ध, दधी, घृत खाद्य पदार्थों में तथा ओषधि वनस्पति आदि में राजा है। पहले इसका बहुत स्वाद लेकर जीवन बीता है। अब इसे देखकर ही मुँह में पानी न आवें अर्थात् जीवन और स्वाद के पीछे ललायित न होता रहे। मन-बुद्धि-इन्द्रिय-वाणी आदि ही सर्वदा मधुमय हो। इस भावना से मधुपर्क में दृष्टिपात रखकर आहुति देवें।

ॐ यथा यशः सोमपीथे, मधुपर्के यथा यशः ॥ अथ० १०।३।२१॥

ॐ जिह्वाया अग्रेमधुमे जिह्वामूले मधुलकम्। ममेदह क्रतावसो ममचित्तमुपायसी। ॐ मधुमन्मे निष्क्रमणं। मधुमन्मे परायणम्। वाचा वदामि मधुमत् भूयासं मधुसन्दृशः ॥

अथर्व० १।३४।१,२,३।

अर्थात् आज से मैं ऐश्वर्य, बल, यश, कीर्ति मधु के सम ही देखता रहूँ। क्योंकि जिस प्रकार असंख्य ओषधि, वनस्पति आदि से मधु-मक्खियों ने मधु संग्रह किया है उसी प्रकार कोमल, सुन्दर, सुगन्ध युक्त पुष्प गर्भ में यह मधु छिपा हुआ है। बड़े पुरुषार्थ से ब्रह्म मूहुर्त में उठकर ही यह अनन्त ब्रह्मपुष्प बगीचे में विचरण करूँ और प्रभु के सुन्दर सुगन्ध युक्त मधुर ज्ञानामृत कोषों में लगा रहूँ। यह मधुपर्क अतीव बल युक्त घृत, शीतल भाव युक्त दधी और मधुर स्वाद-त्रय से बना हुआ मधुपर्क के सम ही हमारा जीवन बन जावें। यही ईश्वर से प्रतीज्ञा स्तुति किया गया है।

अब सन्यासी पात्र से बाहर आकर नाई को बुलाकर मुण्डन कराये। चोटी और जनेयु को एक केले के पत्ते में रखें। यदि केले का न हो तो

अन्य उत्तम वन में रखे। मुण्डन के पश्चात सावित्री गायत्री मन्त्र के जप करते हुए चोटी जनेयु को पत्ते समेत अच्छे जलाशय में गाड़ देवें। स्रोत गामी नदी हो तो बहाना ही उत्तम है। स्नानादि से तुरन्त निवृत्त होकर निम्न मन्त्र से घृताहुति देवें।

ओ३म् अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावा पृथिवी उभे इमे। अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादभयं नो अस्तु स्वाहा। ओ३म् अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवानः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु स्वाहा॥ अथर्व० १९।१५।५,६॥

अब आमरण अभय होकर संसार में विचरण करना है। अन्याय पाप, अपकर्मों से डरना है लेकिन न्याय, धर्म, योग, तप, ज्ञान, ईश्वर, साधनादि सत्कर्मों से कभी नहीं डरना। उसमें कहीं पर भी जाना हो या करना हो सो उसमें सफलता लानी होगी। सभी दिशाओं में विजयी होकर संसार में विराजमान रहना है।

अब १७वाँ दर्पण के अनुसार तीन बार गायत्री की आहुति प्रायश्चित्य पूर्वाहुति आदि पूर्ववत पूर्ण करें।

॥ इति सन्यास संस्कार दर्पण ॥

।३७। सप्तत्रिंश दर्पणः । (अन्त्येष्ठि क्रिया)

अब हम अन्त्येष्ठि संस्कार का वर्णन करते हैं। अन्त्येष्टि शब्द का सामान्य अर्थ है अन्त + इष्ट = अन्त्येष्टिः। अन्त कहते हैं शेष को या समाप्ति को। इष्ट कहते हैं कल्याण या शुभ को। अन्त में ही जिसका शुभ या कल्याण का मार्ग निश्चित होता है उसे ही अन्त्येष्टि कहते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मृत्यु के पश्चात उसके श्राद्ध, पिण्ड, तर्पण

आदि से ही आत्मा की सत् गति हो। यह बात एक दम मिथ्या या झूठा है क्योंकि यह व्यावस्था ब्राह्मण ही करता है। परन्तु ब्राह्मण के हाथों में जन्म की तो व्यावस्था नहीं है? केवल मृत्यु की व्यावस्था करने का ठेकेदार बन गया है क्या? अतः जन्म-मृत्यु की व्यावस्था ईश्वर के हाथों में ही है। वहीं एक ईश्वर सारी दुनियाँ की व्यावस्था करते हैं। हिन्दू, मुसलिम, क्रिष्ठान, बौद्ध, जैन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, निशाद इत्यादि जितने मनुष्य हैं सभी की जन्म, मृत्यु, जाति, आयु, भोग व्यावस्था ईश्वर ही करते हैं। केवल मनुष्य की नहीं, प्राणी मात्र के या जड़-चेतन जगत की सारी व्यावस्था एक ही सृष्टि कर्त्ता की सुव्यावस्था के अन्दर नियन्त्रित है। उस व्यावस्था को ठीक करने या बिगाड़ने की किसी की भी शक्ति नहीं है। सभी कुछ अपने कर्म फल के ऊपर निर्भर करता है। भोगने में ईश्वर की व्यवस्था है।

मनुष्य जब मरता है तो वह प्रेत, दशा, राशि के हेर-फेर में त्रिदोष-द्विदोष या नाम दोष पाकर दुःख, कष्ट, नरक, रौरवादि काल चक्र में घुमता है। ब्राह्मण, पुरोहित, प्रिष्ट, मुल्ला, पादरी आदि लोक मृतक के उद्धार के लिए नाना प्रकार के प्रतिकार का बहाना करके धन, सम्पत्ति, वस्त्र, स्वर्ग, फलवृक्ष, भूमि इत्यादि के पुण्य-फल भागी ब्राह्मण ही बन जाता है और दुःखीया भी श्राद्ध खाने वाला बना रहता है। ब्राह्मणादि क्या प्रतिकार करने के ठेकेदार है? क्योंकि मृतक तो मरने से पूर्व में ही खान-पान छोड़ दिया या छूट गया था। उसके बाद ही मृत्यु हुई। जिन्दगी रहते हुए स्वर्ग सुख भोगने वाले लोग कोई नहीं था। जब शरीर से आत्मा निकल गई तो उसका प्रतिकार करने का ईश्वर भी नहीं रहा। इसका अभिप्राय यह हुआ है कि जन्म-मृत्यु के तो व्यवस्था कर पाया है परन्तु मृतक की भोग व्यवस्था का भार ब्राह्मण,

पादरी, मोल्ला आदि के ऊपर छोड़ गया है ? यहाँ पर उन आत्माओं की सत्‌गति के लिए ईश्वर की कोई शक्ति ही नहीं रही गई ? अतः यह बात अच्छे प्रकार समझ लेवे कि शरीर रहते ही भोग होता है। जाति आयु, भोग व्यावस्था को करने-कराने वाले ईश्वर ही हैं और किसी के हाथ का बस नहीं है। "मृतात्परो कर्म नास्ति" जो मर जाता है उसका और कोई कर्म नहीं रहा। "भस्मान्तं शरीरम" शरीर को भष्म कर देना ही शेष रह जाता है। इसलिए ही अन्त्येष्ठि संस्कार एक महत्वपूर्ण मनन करने का विषय है। सभी संस्कारों का प्रभाव, शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा आत्मा आदि के ऊपर अवश्य ही पड़ता है मरने के बाद नहीं। इसलिए सभी संस्कार जीवित अवस्था में ही स्वयं करके उपभोग करता है किन्तु मृत्यु को अनुभव नहीं कर पाने से ईश्वर की व्यवस्था में ओत-प्रोत है।

अब इस प्रकार खण्डन से लोग आपत्ति उठा सकते हैं कि आपने तो हमारा आय-उपार्जन ही नष्ट कर दिया है। अब उसमें मैं यही एक बात कहता हूँ कि धर्म-कर्म वहीं होता है कि जो मनुष्य यहाँ तक की सारे प्राणी मात्र को ही सुख-कारक, आनन्द दायक और एक ही प्रकार से धारण हो। सभी की मन, बुद्धि, विवेक से एक ही प्रकार स्वीकृति मिलती हो उसे ही धर्म कहते हैं। पृथक-पृथक प्रकृत्ति की मान्यताओं में स्वार्थ भाव पूर्ण रहने से उसे हम धर्म नहीं कह सकते। अतः मृत्यु के पश्चात आत्मा की सत गति के लिए मनुष्यों को कोई हाथ नहीं है। केवल शरीर को पञ्च भौतिक तत्वों में घण्टा भरके अन्दर मिलने का एक मात्र श्रेष्ठ उपाय शरीर को भस्म कर देना है। यही उपाय मनुष्यों के हाथों में रह जाता है। मृत्यु से पहले ही उस आत्मा की सुव्यवस्था ईश्वर ही निश्चय करके भोलन का उपाय करते हैं। उसके अनुसार ही आत्मा वही कर्म

फलानुसार जाति, आयु, भोग व्यवस्था को बना पाते हैं। इसकी विशेष जानकारी के लिये मेरी "मृत्यु के आगे पीछे" ग्रन्थ पढ़े। इसलिए यजुर्वेद का कहना है कि – "भस्मान्त शरीरम्" यजु ४०/२५ शरीर को अग्नि में भस्म कर देवें। मृतक को शुद्ध, पवित्र, सुगन्ध आदि से पूर्ण करें। किसी को घृणा और भय भाव न रहे। मृतक को अपने निवास स्थान के दक्षिण कोने में भस्म करावें या सुव्यवस्था को दिखते हुए करें। स्मशान में नदी घाट, तीर्थ, गुरु स्थान, देवालय, जंगल में इत्यादि कहाँ ले जाने की व्यवस्था करते हैं उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। जिस पिता-माता ने बच्चे को जन्म दिया और कठोर परिश्रम से पाला-पोसा उसे वहाँ पर रखने की भी व्यवस्था नहीं हो सकती ? यह भी गलत है। धर्म के अन्ध भक्ति से दूर दूर में ले जाना, यातायात भाडा खरचा करना; ज्यादा लोगों को परेशान करना, पण्डे, पुरोहित, मोल्ला, पाद्री आदि के चक्कर में अर्थ सम्पदा, स्वर्ण, गौ, फलवृक्ष, भूमि आदि सभी कुछ की व्यवस्था करना यह काम युक्ति संगत सर्व मानव के स्वीकार युक्त नहीं है। युक्ति यह है कि उस मृतक को यथायोग्य सुविधा अनुसार व्यवस्था करें। शहर आदि में शहर के सुव्यस्थानुसार करें। लेकिन दाह कर्म ही करें। दाह के लिए विधि यथा—

(१) मृतक का शरीर लम्बा मोटापा देखते हुये वेदी भी छोटा बड़ा कर लेवे। (२) सुन्दर सुगन्ध पुष्प लेपनादि से सजाकर सुन्दर करे। (३) जालानीकाष्ठ अतीव उत्तम शुष्क हो। (४) घृत, सामग्री, चन्दन, कर्पूर अगर तमर इत्यादि जहाँ तक ज्यादा हो सो उत्तम ही रहेगा। मृतक के लिए ये ही शेष खर्च है। (५) मृतक के सिर और पैर दक्षिण में लम्बा कर सजावें। कुण्ड भी वैसी लम्बी चौड़ी हो। मृतक के सिर, पैर, दाये आँखों, कण्ठ, हृदय, नाभि में इत्यादि सर्वत्र कर्पूर रखे। (६) आहुति

देने की चम्मच लम्बी हो जिससे सरलता से आहुति दे सके। विद्युत प्रक्रिया में सरकारी व्यवस्था में सभी आहुत द्रव्य उसमें डाल देवें। अन्य सभी लोग मन्त्र पाठ करते रहें। अब सभी लोग ईश्वर से *निम्न मन्त्रों को बोलकर के बड़े श्रद्धा, भक्ति प्रेम पूर्वक प्रार्थना बनावें।*

ओ३म् वायुरनिलममृत मथेदं भष्मान्तं शरीरम्।
ओ३म् क्रतोस्मर क्लिवेस्मर कृतंस्मर ॥ यजु० ४०।१५॥
ओ३म् अग्ने तां सुजागृहि वयंसुमन्दिषी महि।
रक्षाणोऽअप्रयुच्छन् प्रबुधेनः पुनस्कृधि ॥ यजु० ४।१४॥
ओ३म् त्रयम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्द्धनम्।
उर्वारूकमिव बन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥
त्रयम्बकं यजामहे सुगन्धि पतिवेदनम्।
उर्वारूकमिव बन्धनादितोमुक्षीय मामुतः ॥ यजु० ३।६०।
ओ३म् अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावा पृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥
ओ३म् अभयं मित्रादभयं अमित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात।
अभयं नक्तमभयं दिवानः सर्वा आशा ममभित्रं भवन्तु ॥
॥ अथर्व १६/१५/५, ६।

निम्न मन्त्र से रखे हुए कर्पूर में अग्नि को प्रज्वलित करें।

ओ३म् वायुरनिलममृत मथेदं भष्मान्तं शरीरम्।
ओ३म् क्रतोस्मर क्लिवेस्मर कृतस्मर ॥ यजु ४०।१५।

निम्न मन्त्रों के द्वारा क्रम से पूर्व-दक्षिण-पश्चिम और उत्तर के तरफ घृताहुति देवें।

ॐ प्राच्यै स्वाहा (पूर्व में)। ॐ दक्षिणायै स्वाहा (दक्षिण के तरफ) ॐ प्रतीच्यै स्वाहा (पश्चिम के तरफ)। ॐ उदीच्यै स्वाहा (उत्तर के तरफ)। यजु० २२।२४ ॥

अब *निम्न मन्त्र द्वारा प्रत्येक स्वाहा उच्चारण काल में घृत द्वारा* नाना अंगों में आहुति देवें। जिस प्रकार क्रम यथा—*केश, चमड़ा, आँखों, जंघा, हृदय, कण्ठ, नाभी, लिंग, मुह में आहुति देवें। मन्त्र यथा :—*

ॐ लोमभ्यः स्वाहा (बालों में)। ॐ त्वचाय स्वाहा (कपाल के चमड़ा में)। ॐ लोहिताय स्वाहा (आखों के उपर)। ॐ मांसेभ्यः स्वाहा (जंघाओं में)। ॐ स्नायुभ्यः स्वाहा (हृदय में)। ॐ मज्जभ्यः स्वाहा (कन्ठों में)। ॐ रेतसे स्वाहा (नाभीमे)। ॐ पायवे स्वाहा (गुप्तगों में)। यजु० ३६।१० ॥

अब निम्न मन्त्रों से *शरीर के सर्वत्र घृत सामग्री आदि के आहुति* देते *रहना चाहिए।* प्रत्येक स्वाहा बोलते समय आहुति देवें।

ॐ तपसे स्वाहा। ॐ तप्यते स्वाहा। ॐ तप्यमानाय स्वाहा। ॐ तप्ताय स्वाहा। ॐ निष्क्रित्यै स्वाहा। ॐ प्रायश्चित्यै स्वाहा। ॐ भेषजाय स्वाहा। ॐ यमाय स्वाहा। ॐ अन्तकाय स्वाहा। ॐ मृत्यवे स्वाहा। ॐ ब्रह्मणे स्वाहा। ॐ ब्रह्महत्यायै स्वाहा।

ॐ विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा। ॐ द्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा।

ॐ अद्भ्यः स्वाहा । ॐ अर्णवाय स्वाहा । ॐ समुद्राय स्वाहा ।
ॐ सरिराय स्वाहा । ॐ वाताय स्वाहा । ॐ धुमाय स्वाहा ।
ॐ अभ्राय स्वाहा । ॐ मेघाय स्वाहा । ॐ विद्योतमानाय स्वाहा ।
ॐ स्तनयते स्वाहा । ॐ उस्फूर्जते स्वाहा । ॐ वर्षते स्वाहा ।
ॐ निहाराय स्वाहा । ॐ अग्नये स्वाहा । ॐ सोमाय स्वाहा ।
ॐ पृथिव्यै स्वाहा । ॐ अन्तरिक्षाय स्वाहा । ॐ दिवे स्वाहा ।
ॐ दिग्भ्यः स्वाहा ॥ ॐ नक्षत्रेभ्यः स्वाहा । ॐ नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा । ॐ अहोरात्रेभ्यः स्वाहा । ॐ अर्धमासेभ्यः स्वाहा । ॐ मासेभ्यः स्वाहा । ॐ ऋतुभ्यः स्वाहा । ॐ चन्द्राय स्वाहा ।
ॐ सूर्याय स्वाहा । ॐ रश्मिभ्यः स्वाहा । ॐ वसुभ्यः स्वाहा ।
ॐ रूद्रेभ्यः स्वाहा । ॐ आदित्येभ्यः स्वाहा । ॐ मूलेभ्यः स्वाहा । ॐ शाखाभ्यः स्वाहा । ॐ बनस्पतिभ्यः स्वाहा । ॐ पुष्पेभ्यः स्वाहा । ॐ फलेभ्यः स्वाहा । ॐ उषधिभ्यः स्वाहा ।

यजु० ३६/१२,१३ ॥ यजु० २२/२६ ॥ यजु० २२/२७/२८ ॥

इसके पश्चात् *१७वाँ दर्पण के पूर्णाहुति मन्त्र से पूर्णाहुति करके सीधे अन्तिम मन्त्र पाठ करें।* कार्य समापन करके दक्षिणा आदि देकर पंडित को विदा करें।

उसके पश्चात् सभी लोग स्नानादि करके शुद्ध-पवित्र होकर मृतक के घर पर सुविधानुसार जावें। जहाँ पर मृत्यु हुआ है, वहाँ पर लेपन द्वारा शुद्ध-पवित्र-निर्मल करके सुगन्धादि-रोग जीवाणु नाषक ओषधि आदि प्रयोग करके १७वाँ दर्पण के अनुसार यज्ञ करें। प्रतिदिन ही विशेष प्रकार

यज्ञ १० दिन तक करें। इष्ट मित्र, बन्धु-बान्धव, गुरु-आचार्य आदि से मिलें और वहीं पर रोजाना धर्म-विवेक-बुद्धि विकास के लिए तथा दुःख-कष्ट निवारण के लिए वेद का उपदेश सुनते रहें। सर्वदा यह बात ध्यान रखना सभी के लिए आवश्यक है कि— वहाँ ज्यादा रोना-धोना न हो। जो आवें सो रोते हुए आवे और घर के लोग सभी से महिना भर तक रोते ही रहें और मिलने वाले ताजे नये-२ रूप में ५-६ मिनट तक जोर-२ से रोकर २ दिखावे और घर के लोग महिनों तक रोवें और जो भी आवें सो वे भी रूलावें तो गृहस्थ जिन्दा ही अर्ध मृत के सम हो जाते है। यह परम्परा समाप्त करके सर्वदा आध्यात्मिक उपदेश से मनोबल वृद्धि-उत्साह तथा साहस दिलावे। इसलिए ही १० दिन तक यज्ञादि उपदेश के कार्य में भाग लेने से दुःख, कष्ट, शान्त हो जावे। चाहें तो अपने व्यवस्थानुसार इसे १२,१३,१८, २१ दिनों तक बढ़ा भी सकते हैं। श्रेष्ठ कार्य है। "मृतात्परो कर्मनास्ति" मृत्यु के पश्चात् मृतक के उपलक्ष में कोई भी श्राद्ध-पिण्ड आदि देने की आवश्यक नहीं है। इसके बारे में मेरे द्वारा लिखित "मृत्यु के आगे पीछे" ग्रन्थ देखें।

मृतक के घर वाले यदि दान पुण्य कर्म करना चाहें तब स्थायी सेवा मूलक कर्म करना चाहिए जिस प्रकार दातव्य चिकित्सालय-विद्यालय-अनाथालय रास्ता घाट सेतु धर्मशाला-यज्ञशाला साधना मन्दिर, योगाश्रम, संस्कृत विद्यालय, वेद मन्दिर के लिए दान-पुण्य आदि करते रहें। भक्ति-प्रेम और श्रद्धा के अनुष्ठान करके जो कार्य किया जाये, उसे श्राद्ध कहते। जिस श्राद्ध कर्म का फल या उपकार स्थायी रूप में होता है वहीं वास्तविक स्थायी पुण्य कर्म युक्त श्राद्ध है। जिससे साधारण व्यक्ति, परिवार-समाज-राष्ट्र और धर्म में सर्वदा स्थायी रूप में उपकृत हो सकें यही श्रेष्ठ श्राद्ध कर्म है। ॥ इति अन्त्येष्ठि क्रिया ॥

।३८। अष्टत्रिंश दर्पणः । (प्रश्नोत्तर)

प्रश्न—पूज्यपाद वेदाश्रयी जी महाराज ! अन्नदान के ऊपर कुछ प्रकाश डालिये । क्योंकि मृत्यु के पश्चात अन्नदानादि करते हैं ।

उत्तर :—इस अन्नदान की महिमा को समझना बहुत सरल भी है और कठिन भी । अन्नदान मृत्योपलक्ष में ही नहीं बल्कि साधारण परिचर्या समझनी चाहिए । इसलिए धैर्यता से सुनो "अन्न वै ब्रह्मः" अन्न को यथार्थ रूप में ब्रह्म कहा है । इसलिए "अन्नं मा निन्देत्" अन्न का कभी निन्दा न करें । अन्न को नष्ट करना ब्रह्महत्या है । ज्यादा खाने से शरीर, पेट, खराब होकर रस, रक्त, मांस आदि से वीर्य तक का दुष्प्रभाव होने से ब्रह्मचर्य का नष्ट होना ही ब्रह्म हत्या है । इसलिए शास्त्र में "वीर्यं वै ब्रह्मः" वीर्य को भी ब्रह्म कहा है । "यः ब्रह्मकार्यं वा श्रेष्ठ कार्यं आचरयति स ब्रह्मचारी" जो श्रेष्ठ गुण, कर्म, स्वभावादि का आचरण करता है उसे ब्रह्मचारी कहते हैं । ऐसा साधक ब्रह्मचारी ही संसार में असली शान्ति का अनुभव करता है । महत् पात्र में अन्न दान करने से महत फल प्राप्त होता है । "यद् वीर्यं तत् पराक्रमः" वीर्य के अनुसार ही पराक्रम होता है ।

"यो अत्ति सः अन्नः" जो चबा-चबा कर खाया जाता है सो उसे अन्न कहते हैं । जो मनुष्य ईश्वर को तथा दाता को उत्तम भाव से स्मरण करता हुआ भक्ति से अन्न को खाता है सो वह ब्रह्म फल या श्रेष्ठ धातु आदि उत्तम फल को पाता है । अशुभ आकांक्षी, निन्दक, अकर्मण्य, अनुपकारी, अपरिश्रमी, आलस्य, प्रमादी को अन्न खाने की शक्ति नहीं है मूलतः अन्न ही उन्हें खा डालता है । यथार्थ रूप से अन्न

खाने वालों को सुख-शान्ति, आनन्द मिलते हैं और अन्न ही जिन्हें

खा डालता है सो वे दुःख, कष्ट, असन्तोष, अल्पायु, राग, द्वेष को प्राप्त करते हैं।

एक बार कहीं पर भोजन कर रहे थे। एक ने ८ रोटी खायी। सभी की नजर में कटु बन गए। सेठानी बोली कि महाराज जी! साधु लोगों के भोजन का परिमाण ज्यादा क्यों होता है? मैंने कहा प्रत्यक्ष रूप से तुम्हें बतलाते हैं। पहले अपनी दिन चर्या बोलो! तुम सारे दिन क्या-क्या खाती-पीती हो? तब देवी जी बोली कि हम २-३ रोटी भी नहीं खा पाते। मैंने कहा कि प्रातः से शाम तक का हिसाब बोलो—

तब सेठानी बताई कि प्रातः एक निम्बू पानी, ८ बजे शुद्ध घृत के पराठे, एक ग्लास दूध, कुछ फल, दोपहर में २-४ रोटी, ४ बजे काफी, चाय, नमकीन, शाम को भोजन रात को एक ग्लास दूध लेती हूँ। कभी-कभी एक ग्लास फल का जूस भी लेते हैं। तब मैंने उनसे कहा कि आप लोग अकेले-अकेले लगभग २०, ३०, ५० व्यक्ति के भोजन खा जाते हो उसका हिसाब कौन करेगा?

देवी बोली कि उसका क्या प्रमाण है? तब मैंने कहा कि—साधु ने ८ रोटी पतली-पतली खाई। १०-१२ मील चलकर आया। पता नहीं उसे प्रातः नाश्ता या गत दिन शाम को भी भोजन मिला हो या नहीं वह आठ रोटी ज्यादा से ज्यादा २, २॥ सौ ग्राम आटा की होगी। उसका मूल्य ५०-६० पैसे होगा। ज्यादा से ज्यादा हो तो २, २॥ रु० का भोजन किया होगा। अब तुम्हारा हिसाब करो कि रोजाना दूध, घृत, छेना, मिष्ट, फल, जूस, पक्वान, दवाई-बोतल के उपरान्त भी दिन भर कितने बार चाय, काफी, टोस्ट, नमकीन इत्यादि चलता रहता है। उपरान्त मूल्यवान कैपसूल, गोली, दवाई आदि भी चलती रहती है उसके सभी खर्चे के मूल्य से कम से कम मन भर आटा मिल जाता

होगा। उससे कितने व्यक्ति की प्राण रक्षा हो सकती है ? जब प्रत्येक व्यक्ति प्रथम अपने का हिसाब कर दूसरों के उपर वर्त्ताव करना चाहे तब किसी भी प्रकार की समस्या नहीं रहती। अतः मनुष्यों को चाहिए कि हम दूसरों के ऊपर जो व्यवहार करते हैं वही व्यवहार अपने ऊपर करने से यदि सन्तोष, सुख, आनन्द मिल जावे सो वही आचरण दूसरों के ऊपर करें। यदि अपने पर दुःख, कष्ट, आशान्ति आदि समस्या उत्पन्न हो तो उस प्रकार का व्यवहार दूसरों के प्रति कभी भी न करें।

अल्प बात में ही इस प्रकार समझे कि विषयी लोगों को अन्न स्वयं ही उन्हें खा डालता है। वास्तविक अन्न को खाने वाला दूसरों को प्यार, प्रीति, सहानुभूति के साथ सात्विक भावना से खिला भी सकता है। परन्तु जिन विषयिओं को अन्न ही खा डाला सो वह व्यक्ति दूसरों को सात्विक प्यार से खिला नहीं सकता। खाने वालों को देखकर, ईर्षा, द्वेष, आलोचना, निन्दा के भागी बन जाते हैं। स्वयं जब अन्न को खाता है तब जिस प्रकार उत्साह, स्नेह, वासना, कामना, लोभ, लालच उत्पन्न होता है ठीक वही भाव उत्पन्न करके अन्न को खाने वाले के प्रति समझ लेवें तो नरक से स्वर्ग-प्राप्ति फल का लाभ होता है। इसका इतना व्यवधान में आकाश-पाताल का अन्तर है।

जो लोग रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि विषय के फेरे में घिरे रहते हैं, वे लोग पात्र को व्यर्थ ढूँढता रहता है। उसमें ही सारी कमाई खो बैठता है। उन्हें अच्छे पात्र का भी ज्ञान होने से अच्छे-अच्छे सुपात्र की उपेक्षा करके दूर भगाने की चेष्टा करता है। चोर, डाकू, बदमाशों से जिस प्रकार साधु, न्यायकारी, सत्यकारी दूर रह जाते हैं, उन्हें हार्दिक प्यार ही नहीं कर सकता। अपने हृदय खोलकर बोल नहीं सकता। यही दुर्भाग्य है कि मनुष्य जन्म पाकर अन्य मनुष्य उत्तम पात्र

से सम्बन्ध जोड़ नहीं पाया। इससे बढ़कर अभागा दुनिया में और कौन होगा ?

उत्तम, वस्तु, साधन, धातु, मन, बुद्धि, विचार आदि सभी का मूल्य ही जब ज्यादा होता है तो उत्तम, मध्यम, अधम बोलकर श्रेणी का विचार-विमर्श ही सभी में होता रहता है। तब दान दाता को भी उत्तम से उत्तम जहाँ तक हो सके देश-काल पात्र के हिसाब से चयन करके निरन्तर दान भाव से देना चाहिए अर्थात् उसे सेवा-दान से वञ्चित नहीं होना चाहिए।

अन्नदान करना भी एक महत्वपूर्ण यज्ञ कर्म है। अच्छे-अच्छे उप-करणों से ही यज्ञ कर्म होता है। अपवित्र, दोषित, कलुषित, निन्दनीय, कुपात्र से यज्ञकर्म नहीं होता। पवित्रता का प्रतीक ही यज्ञकर्म है। इसलिए विचार पूर्वक उत्तमपात्र में आहुति देने का फल सर्वदा पुण्य-कर्म ही कहलायेगा बिना विचार से अपवित्र पात्र में दान करने से उसका फल सर्वदा पाप ही होगा।

प्रश्न :—दान मात्र ही तो पूण्य का प्रतीक सभी लोग मानते हैं। महाराज जी ?

उत्तर :—मान्यता तथा विचार पूर्वक मान्यता में आकाश-पताल का व्यवधान है। प्रायः धनवान, सेठ, व्यवसाई लोग दरीद्र नारायण के लिए अन्न प्रदान का क्षेत्र चलाते हैं। उसमें यदि विकलांग, दरीद्र, अनाथ, अनुपाय, अनाश्रयिओं के लिए अन्न तथा निवास की व्यवस्था क्षेत्र तैयार करें तो उत्तम है परन्तु अपने नाम के लिए गली-मोहल्ला में अन्न क्षेत्र बनाकर अपना प्रचार करते हैं अपने को अभिमान का ऊँचा पोस्ट बना रखे हैं। दूसरी तरफ से निकम्मे, चोर, गुण्डा, बदमास, आलसी, प्रमादी, नकलची रोगीओं का अड्डा बन जाता है। समय से

दोनों वक्त भोजन पाकर रास्ते गली-मोहल्ले-आंगन आदि में सर्वत्र सोया रहता है। काम-धन्धा कुछ भी नहीं करता। रात में जग को लूटता, व्याभिचार असामाजिक व्यवहार करता रहता है। अन्त में एक गन्दे मोहल्ला लूला, लंगड़ा; स्थूल बुद्धि और कुसंस्कारी वंश परम्परा का स्वरूप धारण करता है। स्वार्थी दुनिया कोई ध्यान नहीं देती। उसमें गन्दे परिवेश की वंश परम्परा का निर्माण कर व्यक्ति परिवार, समाज, राष्ट्र में सर्वत्र अशान्ति का वातावरण बन जाता है। अतः अन्नदान के साथ-साथ शारीरिक मानसिक-बौद्धिक विकास के लिए भी लक्ष करना चाहिए। केवल अन्नदान के बहाना से उनके भविष्य के जीवन को आलस्य प्रमादी निकम्मा चोर बदमाशों का परिवेश उत्पन्न करना मानव जीवन के लिए जुल्म ही होता है इसलिए पुण्य के स्थान में पाप ही ज्यादा होता है।

उत्तम से उत्तम का प्रतीक सर्वोत्तम ईश्वर ही है। सर्व श्रेष्ठ को ही ईश्वर कहा है। गीता में भी इस प्रकार कहते हैं कि—ईश्वर पहाड़ों में हिमालय, वृक्षों में बट वृक्ष सर्पों में वासुकी, जलाशयों में समुद्र, सर्पों में शेषनाग इत्यादि से सर्व श्रेष्ठ को ही ईश्वर का प्रतीक समझना चाहिए। उत्तम को समझना सरल होता है किन्तु विचार पूर्वक उसे करना कठिन है। स्वार्थी लोभी काला-धन्धा करने वालों के अज्ञान में या बाधा-विघ्नों में भले ही प्रचूर अर्थ नष्ट हो जाता है परन्तु सामने से खरचा करना सहन नहीं होता। भले ही कुछ रुपये पैसे १०/२० ले देकर किसी को विदा कर सकता है परन्तु समय देकर अपने पुरुषार्थ से सेवा करना कठिन होता है। अतः दरिद्र नारायण की सेवा स्वार्थी-लोभी-विलासी-निन्दक-ईर्षालु-गन्दे झूठे-अनाफ-सनाफ कमाई करने वाले हृदय से सेवा सत्कार नहीं कर सकता। उत्तम कर्म उत्तम आत्मा ही कर सकती है।

प्रश्न—वेदाश्रयी जी महाराज ! आप से जानना चाहते हैं कि—संसार में जितने अतिउत्तम मुनि-ऋषि-सन्त-महात्मा-साधक-गुणी-ज्ञानी-पीर-पैगम्बर हुए हैं सो उन्हें आप मानते हैं ?

उत्तर—अवश्य ही मानता हूँ, जो सत्य-न्याय-आदर्श विचार संगत हो, मनुष्य मात्र के लिए परस्पर हितकारी हो। समस्त मानव जाति के लिए परस्पर विषमता-वैर भाव-दलबन्दी, जात-पात का भेद-भाव, हिंसा-द्वेष इत्यादि न हों। क्योंकि महान पुरुष सर्वदा मानव के लिए पथ प्रदर्शक होते हैं। कुछ न कुछ महानता सभी के अन्दर मिल ही जाती है। उसे लेना चाहिए। मनुष्य ईश्वर न होने से साधकों के अन्दर कुछ भूल-त्रुटियाँ भी हुआ करती हैं सो उसे लेना नहीं चाहिए।

प्रश्न—आप महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों को मानते हैं ?

उत्तर—अवश्य ही मानता हूँ। वेद ज्ञान श्रोत पथ के गुरु रूप में मानता हूँ। महर्षि दयानन्द का अपना कोई मत नहीं रहा। केवल वेद का ही प्रधानता दिये हैं। मैं भी वेद को लेकर ही चलता हूँ। उसमें कोई भेद नहीं है।

प्रश्न—तब आपने "वेदालोक संस्कार दर्पण क्यों छपाया" ?

उत्तर—महर्षि दयानन्द वेद को ही ईश्वर का दिया हुआ ज्ञान मानते हैं। ईश्वर के ज्ञान में कोई अभाव न रहने से ज्ञान-कर्म-उपसना आदि सभी संस्कार केवल वेद का ही होना चाहिए। यदि कहो कि विनियोग प्रसंग को ऋषिओं ने सूत्र ग्रन्थों में पूर्ण किया है तब हम उसे भाषा ज्ञान तथा कर्म सिद्धान्तों के विशेष ज्ञान के लिए सर्वदा मनन-विचार-विमर्श करके आगे के तरफ गहराई में जाने की प्रचेष्टा कर सकते हैं। परन्तु वेद मन्त्र के सम मान कर या उससे भी ज्यादा समझ कर कर्मव्यवस्था में प्रयोग करना ठीक नहीं समझते। यह महर्षि दयानन्द

के सिद्धान्त नहीं हैं। सभी ऋषियों की मान्यता को ग्रहण करके सम्मान दिखाया है। अब उसमें नाना मुनि के नाना भाव धाराएँ प्रवेश करके "संस्कार विधि में" ७०/८० प्रतिशत ऋषि-मुनियों के सूत्र-श्लोक-कण्डिका इत्यादि प्रवेश कराया। ईश्वर का दिया हुआ वेद मन्त्र केवल २०/३० प्रतिशत रह गया है। इसे हम उपयुक्त नहीं समझते इसलिए कि वेद मन्त्रों की लघुता हुई है।

प्रश्न—यदि आपका यह "वेदालोक संस्कार दर्पण" अनुपयुक्त समझ कर कोई जला देवें तब आप क्या करेंगे ?

उत्तर—हमने सुना है तथा पुराणों में भी लिखा है कि—शंखग्रीभ तथा हओग्रीभ दोनों दैत्यों ने वेद को जलाया था। उससे वैदिक धर्म का लोप हुआ परन्तु उन दैत्यों को कोई अब दिखा नहीं सकता है। खुशियाली है कि शुद्ध वेद मन्त्रयुक्त ग्रन्थ को जलाने वाले दैत्य अभी भी जिन्दा हैं; प्रत्यक्ष देख भी लेंगे।

प्रश्न—तब तो हम ही दैत्य के रूप में अब बन गये हैं ? प्रश्न करके हम फंस गए हैं महाराज जी ? आप ये बताइये कि संस्कार विधि में भी किसी ने कुछ प्रवेश कराया है ?

उत्तर—मैं किसी का कुछ बताना नहीं चाहता परन्तु हमारे चलने के पथ पर जब बधाँए उत्पन्न करते हैं तब कुछ बोलना ही पड़ता है। महर्षि दयानन्द से पहले आर्य समाज इस प्रकार का नहीं था। अतः पौराणिक पण्डित वर्ग ही सर्वप्रथम रूढ़िवादिओं के जाल से महर्षि दयानन्द के पास आया। उनमें हेर-फेर करने वाले प्रसिद्ध पण्डित भीम सेन जी थे। उनके कुछ साथी भी थे। महर्षि दयानन्द जो कुछ उन्हें कहकर या कार्य-भार सौंप कर जाते थे तब वे लोग कुछ अपना भी जोड़ा करते थे। उसका यह परिणाम हुआ कि—महर्षि दयानन्दजी की बार-२ बद-

लना पड़ता था। अन्त में उन्हीं पण्डितों के हाथ में ही आर्य समाज का कार्य-भार रह गया था। इसी कारण से पण्डित युधिष्ठीर मिमांसकजी भी नाना स्थानों में कुछ न कुछ उल्लेख करते रहे परन्तु अब सम्प्रदाय में परिपक्वता आ गई है। इसलिए उन बातों का भी कुछ लोग निरादर करते हैं। महर्षि दयानन्द ने कहा है कि १० विद्वान बैठकर हमारे सिद्धान्तों में कहीं पर त्रुटियाँ समझे हो तो उस त्रुटिको स्वीकार न करें। वेद का ही सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त स्वीकार करें। मनुष्य ईश्वर न होने से उससे कुछ भूल-त्रुटियाँ स्वभाविक होती ही है, उसे न माने।

महर्षि दयानन्द की जीवनी में लिखा है कि—उन्होंने कभी भांग भी पी थी परन्तु उनके शिष्य लोग कभी नहीं पीते क्योंकि बाद में उन्होंने उसकी कठोर निन्दा की। महर्षि दयानन्द गुरु दक्षिणा देकर आगरा में कहीं पर कण्ठियाँ भी पहनाये थे, बाद में उसे उतरवा भी दिये। इसलिए उनके शिष्य कण्ठीमाला नहीं पहनते अर्थात् अपरिपक्व जीवन का महत्व नहीं होता। परिपक्व जीवन का ही महत्व होता है। इसलिए यह प्रसिद्ध वचन है कि—"यानि सूचरिता तानि उपास्यानि नो इतराणि" अर्थात् जो सर्वश्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव युक्त आचरण है उसे ही ग्रहण करें। विपरीत आचरणों का सर्वदा परित्याग करें।

महर्षि दयानन्द के समय बहुत बाधाएँ थीं जिसके कारण उन्हें १७ बार जहर भी पीना पड़ा। उन्होंने सभी ऋषियों को इसलिए आदर किया जिससे उन ऋृषिओं के अनुयायी मिल जावें, अन्यथा कोई उपाय भी नहीं था, सभी लोग सर्वदा विरोध ही करते रहें। उनकी बातें रूढ़िवादियों को कांटे जैसी चूभती थीं।

प्रश्न—महाराज जी! आप हमारे प्रमाणित मन्त्र उपनयन संस्कार का जैसे "यज्ञोपवित परम पवित्र०" घृताहुति का "अयन्त इदम आत्मा०"

समिधा मन्त्र 'अयन्त इध्म०" प्रायश्चित्याहुति "यदस्य कर्मणोऽत्यरिरीचं०" पूर्णाति, आचमन, अग्न्याधान इत्यादि जितने प्रकरण हैं सो उसे आपने स्वीकार क्यों नहीं किया ?

उत्तर—तुम लोग मुँह से क्या कहते हो सो उसका भी तुम्हें ज्ञान नहीं है कि हम क्या कहते हैं ? तुम अभी जितने प्रमाण "मन्त्र" कहकर बोल रहे हो सो वह एक भी मन्त्र नहीं है। वह तो प्रमाण मुनि ऋषियों के सूत्र-ग्रन्थ आदि का है। ईश्वरकृत वेद मन्त्र नहीं होने से हमने उन प्रमाणों को नहीं लिया। पूर्ण ईश्वर का पूर्ण ज्ञान भण्डार केवल वेद मन्त्र ही लिया है। नाना मुनि के नाना प्रमाण लेने के कारण ही वेद का प्रचार कम हुआ और गुरुवाद की प्रधानता चली, बढ़ती रही। गीता में भी मन्त्रहीन यज्ञ का फल तामसिक, निष्फल बताया है। अतः स्पष्ट बात यह है कि—वेद मन्त्र भिन्न ज्ञान-कर्म-उपासना का विषय नहीं रखा।

प्रश्न—वेदाश्रयीजी महाराज ! आप सनातन धर्म को मानते हैं ?

उत्तर—मैं तो असली सनातन धर्मी हूँ। नित्य-शाश्वत-चिरन्तन-अनादि-अनुपम-सर्वमान्य और धारण करने योग्य को सनातन कहते हैं। गीता में भी भगवान कृष्णजी ने कहा है कि—जिसका छेदन नहीं होता, अग्नि नहीं जलाती, जल गला नहीं सकता, जिसकी सर्वत्र प्रगति हो, ऐसे नित्य स्थिति को सनातन कहते हैं ।।गीता—२।२४।। सृष्टि के आदि से वंश कुलानुक्रम में जो सभी के धारण करने योग्य हो, उसे सनातन कहते हैं ।।गीता—१।३९।। उत्पन्न होने का मूल कारण या बीज को सनातन कहते हैं ।।७।१०।। जो सभी भूतों में रहता हुआ अव्यक्त या विनाश होता हुआ भी मूल रूप से विनाश नहीं होता सो उसे सनातन कहते हैं ।।गीता—८।२०।। यज्ञादि शुभ कर्म करता हुआ जो भोजन करता है वह सनातन ब्रह्म को पाता है ।। गीता—४।३० ।। नित्य-शाश्वत आत्म तत्व

को सनातन कहते हैं ।।गीता—११।१८।। जीव भूत को भी सनातन कहते हैं ।।गीता—१५।७।। अतः जो वस्तु-गुण-कर्म-स्वभावादि "यथा पूर्वमकल्पयत्" सृष्टि के पूर्व कल्पकल्पान्तरों में था, इसी सृष्टि प्रकल्प में उसी प्रकार ही है और भविष्य में भी उसी प्रकार ही सृष्टि क्रमाणुगत चलता रहेगा सो उसे ही सनातन कहते हैं। इसलिए हम "त्रिकालावादितं इति सनातनम्" तीनों कालों में जो एकतावद्ध रहता है सो उसे सनातन कहते हैं। अब दुनिया के अन्दर सर्वमान्य एक मात्र उपास्य ईश्वर को ही सभी लोग सनातन मानते हैं। ईश्वर ही जब सनातन है तब ईश्वर की सृष्टि प्रक्रिया भी सनातन है। ईश्वर ने सारी दुनिया का निर्माण करके मानव मात्र के लिए वेद ज्ञान को दिया। अतः वेद ज्ञान ही सनातन है। वेद ज्ञान को अच्छी प्रकार धारण करना ही शुद्ध सनातन धर्म है। वेद ज्ञान के छेदन करके, वेद का ही नाम लेकर अपने-२ विधि, नियम, विनियोग, कर्म पद्धति प्रवेश कराकर, वेद के व्यवस्था को जब तोड़ते हैं तो उन्हें सनातन धर्म का घातक कहा जाता है।

वर्तमान में वेद के प्रति मान्यता को स्वीकार करता हुआ जो सन्त, महात्मा, मुनि, ऋषि, योगी, तपस्वी और साधक आदि हैं, वे लोग अपने गुरूवाद तथा अपने ही महत्व विस्तार के लिए अपनी ऐसी दुकानदारी चालु किये हैं जिस प्रकार जेनरेल स्टोर बना रखा है। सभी खरीददारों को हर प्रकार के माल देने को तैयार रखा है। ईश्वर के नाम से, बीज मन्त्र, ब्रह्म मन्त्र, शक्ति मन्त्र, शिव मन्त्र, लक्ष्मी स्तोत्र, विष्णु मन्त्र, पार्वती मन्त्र, कृष्ण मन्त्र, राधा काम गायत्री, बीज गायत्री, राम बाण स्तोत्र, साध्या काली, दुर्गा बीज, मा मनसा, महानाम, भावातीत शक्ति, चामुण्डी इत्यादि कितने प्रकार के जो सामान रखते हैं सो जो कोई भी

खरीददार आये सो सभी को दीक्षा शिक्षा के नाम से फँसाने का

साधन एकत्र रखें हैं। यह एक सीधी सरल बात है कि ईश्वर जब एक हैं, तब उसका नाम भी मुख्यरूप से एक है। गुण-कर्म-स्वभावादि अनन्त होने से गौण नाम भी अनन्त है। परन्तु श्रेष्ठ नाम एक ही है। अब यदि गुरु जी कहें कि एक ही श्रेष्ठ नाम वेद मन्त्र से हम भी ईश्वर को पुकारते हैं सो तुम लोग भी इसी नाम से साधना-भजन करो। तब तो उनके अपनेपन की व्यवस्था समाप्त हो जायेगी। इसलिए वेद को अमान्य भी नहीं कर सकता और अपनापन का गुरुवाद भी त्याग नहीं सकता। यही नाना मुनि के नाना मत-मतान्तर उत्पन्न होने का मूल कारण है अतः जो धर्म मत-मतान्तर थोड़े वर्ष-युगादि के पूर्व नहीं था, अब हुआ और हो रहा है सो कुछ वर्षों के अन्दर समाप्त भी हो जायेगा सो ऐसे विधि व्यावस्था युक्त धर्म को सनातन धर्म नहीं कहा जा सकता। नित्य-शाश्वत-एकीभाव-एक रस अनादि-अनुपम-अव्यय-अनन्त ज्ञान भण्डार वैदिक धर्म को ही सनातन धर्म कहते हैं।

प्रश्न—महाराज जी ! वेदानुकूल जितने शास्त्र मुनि ऋषिओं ने बनाया है, सो वह भी तो वैदिक है ? सो उसे क्यों नहीं मानते ?

उत्तर :—देखो ! "वेदे भव वैदिकः"। जो नियम-व्यवस्था मन्त्र योगादि वेद में जिस प्रकार है सो उसी प्रकार ही मान्यता को वैदिक पद्धति कहते हैं। यह एक साधारण नियम है कि लौकिक आचरणों को वेद मन्त्र के सम मान लेना उचित नहीं। उसमें वेद की शृङ्खला टूट जाती है। अपनी-अपनी शैली बना करके वेद के नाम से जब चल पड़ा तो वेद का महत्व नहीं रहा। गुरु वाक्य, गुरु मन्त्र, गुरु पन्थ, गुरु द्वारादारी, गुरु रूप, गुरु मूर्ति, गुरु ध्यान, गुरु पूजन, गुरु चरण अमृत, गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु, गुरु महेश्वर, गुरु ही पारावार, गुरु मुक्ति, गुरु गोलोग तथा स्वर्ग सुख के देने वाला बन गया है, अब

ईश्वर और ईश्वर प्रदत्त वेद ज्ञान ये दोनों उलझ गये। इसके प्रति प्रधान्यता समाप्त हो रही है। ईश्वर के स्थान में गुरु प्रवेश किया और वेद के स्थान में गुरु के वाक्य ही रह गये। इसलिए धर्म के नाम से बुद्धि मारी गई। गुरु कृपा के नाम से योग, तप, साधन, विद्या, ज्ञान समाप्त होती रही। गोपी लीला के नाम से पति भक्ति भाव समाप्त होती रही। विषय भोग की अव्यवस्था से वीर्य हीनता-धातु-रोग-नपुंसकता वर्णसंकर-चरित्रभ्रष्टता-निबुद्धिता-अल्पायु इत्यादि की बृद्धि हो रही है। यही एक मात्र संसार के पतन का कारण है।

प्रश्न :—वेदाश्रयी जी महराज! आप कर्मकाण्ड को किस प्रकार से मान्यता देते हैं ?

उत्तर :—वेदानुकूल अर्थात एक मात्र ईश्वर कृत वैदिक सनातन धर्म कर्म उपासनादिओं को स्वीकार करते हैं। कर्म योग ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है, जिसमें सभी ज्ञानों का मूल बीज रूप से पाया जाता है। भगवान कृष्ण ने कहा है "यज्ञ कर्मसमुद्भव" "यज्ञ वै श्रेष्ठतम कर्म"। यज्ञ कर्म से ही सभी कुछ का सृजन हुआ। ब्रह्मा ही यज्ञ कर्म का नायक है। यज्ञ से दग्ध होकर ही भस्म उपत्न्न होती है। ओषधि ही समस्त ब्रह्माण्ड में वितरित होकर सात्विक भस्म का निर्माण करती है। भष्म ही अवधूत का स्वरूप है। अवधूत भष्म बिना प्रज्वलित अर्थात् तपस्या के बिना सात्विक भाव उत्पन्न नहीं होता। इसलिए ही धुनि का महत्व है। "यज्ञेन यज्ञ-मयजन्त देवाः" दिव्य आत्माओं ने पञ्च भौतिक देवताओं से शुद्ध पवित्र वेद मन्त्र द्वारा यज्ञादि करके ही निरन्तर यज्ञ कर्म का विस्तार किया है। जब उत्तम ओषधि, वनस्पति, सुगन्धादि द्रव्य अग्नि को मिल जाता है तब जल, मिट्टी, वायु, आकाश सभी को मिल जाने से जड़ चेतन दुनियाँ में कहीं पर भी बाकी नहीं रहता। यजमान एक हाथ से जब अग्नि को

देता है तब अग्नि रूप ब्रह्मा अपने सहस्त्र हाथों से सर्वत्र ही वितरण करने से यज्ञ कर्म ही श्रेष्ठ है।

प्रश्न :—वेदाश्रयी जी महाराज—आपके सिद्धांतों को कोई भी अमान्य नहीं कर सकेगा लेकिन यह यज्ञ का महत्व क्यों घट गया है तथा मूर्ति पूजा आदि क्यों बढ़ी है ?

उत्तर :—बड़ी सुन्दर भावना युक्त तुम्हारा प्रश्न है। अच्छी प्रकार सुन लो ! ब्राह्मण और गुरु जब अर्थ और स्वार्थ को देखने लगे, तभी से अग्नि को यज्ञ के रूप में देना बन्द किया। क्योंकि अग्नि को देने से अपने पोटली थैली में नहीं गिरेगा, अतः जहाँ पर देने से नहीं मिलता सो ऐसे ज्ञान, कर्म, उपासना, पूजा-पाठ आदि का कर्म बन्द कर दिया है। उसके साथ-साथ योग, तप, साधना, विराग, ज्ञान, विवेक, विद्या, बुद्धि भी कम हो रही है, तभी जाकर धर्म-कर्म भी लुप्त हो गया है। अर्थ स्वार्थ पेट पूजा की बातें ज्यादा रह गई हैं। धर्म-कर्म की बातें नकली हो गई हैं। २०/२५/५० स्थानों में देवी-देवता रख कर अलग-अलग संकल्प और पूजा-पाठ से नाना उपायों से दक्षिणा और उपकरण साधनों से ज्यादा से ज्यादा मिलने का उपाय बनाया है।

प्रश्न :—महाराज जी ! हम भी आपकी बातों को तुरन्त समझ गये हैं क्योंकि हम आर्य समाजी होने के कारण कोई भी पूजा पार्वणादि पाखण्ड नहीं करते।

उत्तर :—यह बात भी इस ढंग से कहना गलत है। कोई भी पूजा पाठ पार्वणादि न करना उत्तम नहीं है। मूर्ति पूजा के बिना मुक्ति नहीं है। मूर्त्ति कहते हैं आकृति को। आकृतिवान मूर्त्ति के गुण, कर्म, स्वभाव को देखते हुए ही पूजा की व्यवस्था होनी चाहिए। निराकार की पूजा नहीं होती। साकार की पूजा होती है। मूर्त्ति या साकार की अनन्त

आकृति है। अनन्त प्रकार साकार मूर्त्ति होने से मूर्त्ति पूजा भी अनन्त प्रकार की है।

प्रश्न—वेदाश्रय जी महाराज ! हम तो आपको मूर्ति पूजा की विरोधी समझते थे ? अब तो उल्टी बात हो गई।

उत्तर—तुम्हारी तो मूर्ति पूजा का नाम सुनते ही बुद्धि भी उलट जाती है। बात को अच्छी प्रकार समझ लो। मूर्ति पूजा के बिना सेवा-सत्कार-प्रेम-श्रद्धा-भक्ति-ज्ञान-विवेक आदि कुछ भी नहीं होता। नाना प्रकार मूर्ति के भेद अनुसार नाना प्रकार श्रद्धा-भक्ति ज्ञान-विवेक-सेवा और सत्कार आदि होते हैं। पूजा कहते हैं "पूज्-पूजायाम्" धातु अर्थात सेवा-सत्कार करना। जिस सेवा से शरीर की वृद्धि हो, आकृति सुन्दर हो, मूर्ति के अन्दर से विकास हो, ज़िस साधनों से पूजा करते हैं उस से ही रस-रक्त-मांस-मेध-अस्थि-मर्या-बीर्य-ओज आदि का निरन्तर विकास हो। मूर्ति के मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ प्रसन्न होकर शारीरिक विकास करता है। अच्छे बुरे का निर्णय देता हो, तभी जाकर मूर्ति पूजा सार्थक होती है। उसे ही मूर्ति पूजा कहते हैं। प्राणी मात्र की सेवा ही मूर्ति पूजा है। किसी को भी देकर उसे लेना पाप है। न देकर लेना ऋंण है। लेकर देना ऋण मुक्त है। निरन्तर जो देते हैं किन्तु अपने लिए लेता नहीं है उसे देवता कहते हैं। जो केवल लेता ही रहता है और देना नहीं चाहता वे राक्षस हैं। लेकिन जो गन्दे ढङ्ग से प्रयोग करते हैं वह पिशाच है। जो उपकार को पाकर उस पर ही आक्रमण करता हो सो उसे दैत्य कहते हैं। जो मनन या विचार पूर्वक लेन-देन करता है, उसे ही मनुष्य कहते हैं। अतः ज्ञान-बुद्धि-विवेक के अनुसार कार्य करना ही मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ पूजा है।

प्रश्न—मूर्ति पूजा क्यों चली महाराज जी ?

उत्तर—वर्तमान समय में ब्राह्मण लोग ही वैदिक सनातन धर्म का विनाश या पतन किये। मनन, विचार-बुद्धि-विवेक-विद्या-योग-तप-साधना आदि सभी विद्याओं की शिक्षा देने के लिए ब्राह्मणों के ऊपर भार दिया गया था। तभी से चारों वर्णों के पृथक-२ गुण-कर्म तथा स्वभाव आदि के कारण वर्णाश्रम व्यवस्था का निर्माण होता था। तब ब्राह्मणों के हाथों में जो कर्म क्षमता का अधिकार था वह सभी कुछ खो बैठा। विद्या-बुद्धि-त्याग-तप-साधना-योग-दानादि कार्य छोड़ करके छल-कपट-मिथ्या-प्रवञ्चना-दोषित खान-पान तम्बाकू मादक द्रव्य आदि का सेवन, दुराचार-भ्रष्टाचार इत्यादि जितने निषिद्ध अवगुणादि हैं सो उसे ग्रहण किया है। वे ही अनुपयुक्त लोग जब भगवान के घर में पुजारी बन गए तब तो पतन की कोई सीमा ही नहीं रही। विशाल सनातन धर्म के अन्दर भेद-भाव, जात-पात विचार, ऊँच-नीच, अछूत-अपवित्र, घृणा-हिंसा-विद्वेष, साम्प्रदायीक कलह आदि की सृष्टि होती रही और नये-२ मत-मतान्तर बनते ही चले गये। जिस अखण्ड मण्डलाकार जम्बू द्वीप में एक भी मुस्लिक, क्रिष्ठान-बौद्ध इत्यादि नहीं थे। यहाँ तक कि इस सृष्टि के आदि से ही एक मनुष्य समाज और वेद ही एकमात्र मानव ग्रन्थ था। जब ब्राह्मण वर्ग विशेष अधिकार को लेकर इस विद्या के प्रचार कार्य में आलस्य, प्रमाद, लोभी-लालची, छल-कपट, गोपन गुढ से गुढ तत्व का प्रलोभन और जाति ब्रादरी का पक्षपात, छूआ-छुत का वातावरण प्रवेश कराया अर्थात् दुरूपयोग किया है तभी से धर्म का पतन हुआ। साधारण जनता में धर्म की परिभाषा ही अब विपरीत नशे का नेशा सम समझ गयी। भले ही बोतल का या मादक द्रव्यों का प्रयोग प्रशंसा के पात्र बन गये लेकिन धर्म शिक्षा जो सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय, पाप-पुण्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, भक्ष्य-अभक्ष्य, पठ्य-अपठ्य,

गम्य-अगम्य, लघु-गुरु सम्मान इत्यादि सभी प्रकार के दोष और आदर्श-वाद की शिक्षा प्रदान करती है सो इस सभी उत्तम प्रेय और श्रेय मार्ग का विचार ही नहीं रहा। इसलिए ही व्यक्ति-परिवार-समाज-राष्ट्र और धर्म में सर्वदा ही अशान्ति, उच्छृङ्खलता बढ़ती चली गई। श्रद्धालु लोगों में अन्ध विश्वास, अज्ञानता बढ़ती चली गई। उसके साथ-२ मूर्ति पूजा आदि नाना प्रकार बहानाबाजी से पूजा-पार्वन बढ़ता चला गया। अन्त में मूर्ति, पेड़-पूजा, पेट-पूजा, देवी-देवता पूजा, समाधि पूजा, कबर स्थान पूजा, सड़क पूजा, गंगा पूजा, भूमि पूजा इत्यादि अनगिनित पूजा के स्वरूप बन गये और बन रही है। परन्तु निस्काम का नाम तक समझ में नहीं आया लेकिन सकाम स्वार्थ अर्थ सिद्ध पूजा की लहर बैठा दिया। अतिथि, गुरु आचार्य, पिता-माता, स्वामी भक्ति इत्यादि सभी के प्रति असत्कार और निरादर होता रहा।

प्रश्न वेदाश्रयी जी महाराज! आप मूर्ति पूजा की विधि का किस प्रकार प्रचार करेंगे? अनन्त मूर्तियों के अनन्त प्रकार के पूजार्ध कैसे रहेगा?

उत्तर—जिसके अन्दर जिस प्रकार के गुण, कर्म, स्वभावादि हैं सो उसे उस प्रकार मान करके ही सेवा, सत्कार करना हम श्रेष्ठ मूर्ति पूजा मानते हैं। उदाहरण जिस प्रकार भगवान राम, कृष्ण, शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, पार्वती, राधा, सीता, काली, दुर्गा, मनसा इत्यादि जितनी शक्ति सम्पन्न व्याख्या युक्त फोटो या चित्र हैं सो उसे दूध केला मिष्टान आदि से सेवा करने से या मुँह में स्पर्श करते ही उसका महिमा रूप चित्र नष्ट होगा। अतः जिस उपाय से उसका स्थायीत्व बना रहे सो वही पूजा है। काँच का फ्रेम लगाकर स्वच्छ सुन्दर परिपक्वता से रख ही ज्यादा दिनों वर्षों तक उससे लाभ उठाते हैं। उसके नाना गुण कर्म

स्वभाव आदि का स्मरण करें। इस प्रकार जितने महान आत्माओं के स्थायीत्व निर्माण हो सो वही बड़ी पूजा है। जब हम दैव शक्ति के रूप में सभी देवी देवताओं के बारे में मनन-विचार तथा अनुसन्धान करते है, तब प्रायः सभी के नाम वेद में मिलता है। वैदिक सिद्धान्तों की एक अनोखी विचार धारा है। तीन ही पृथक-पृथक सत्य हैं—ईश्वर जीव प्रकृति। जीव भोक्ता है, ईश्वर भोग नहीं करता, इसलिए ईश्वर को द्रष्टा माना गया है। भोग करने से मल बनता है। मल दोष ही विकार पैदा करते हैं। विकार ही रोगों या बन्धन के कारण है। भोग्य पदार्थ स्थूल है। स्थूल भोग से ही विकार होता है। विकार प्रकृति का ही एक परिणाम अवस्था है। प्र+कृति=प्रकृति। अर्थात जिससे बार बार पैदा होते हैं और उसमें ही लीन हो जाते हैं। वही लीन अवस्था से बार-बार उत्पन्न होने को प्रकृति कहा है। प्रकृति ही बन्धन का कारण है। प्रकृति जड़ है। प्रकृति से शरीर बना सो वह भी जड़ है। जड़ वस्तु के पूजन या सत्कार का महत्व जड़ प्रकृति कभी जान नहीं सकती। उससे चेतना का अभाव है। चेतना का सहारा लेकर ही प्रकृति विकार प्राप्त होकर नवीनता को पैदा करती है। ईश्वर ही मालिक या कर्त्ता है। प्रकृति से ही ईश्वर ने सारी दुनिया को बनाया है। शरीर धारी प्राणी उस प्रकृति के विकार का परिणाम अवस्था है। प्रकृति से ही ईश्वर ने प्राकृतिक दृश्यमान जगत् का निर्माण किया है।

जीव के साथ प्रकृति के शरीर का मिलन ही एक पूज्य पात्र बन जाता है। जीव धारी शरीर ही मुर्त्तिमान पूजा का उपयुक्त पात्र है। इसके पूजन से ही हर्ष, उल्लास, आनन्द, दीर्घायु, प्रशंसा-धन्यवाद जाति, आयु, भोग व्यवस्था का निर्णय होता है। शरीर त्याग ने के पश्चात् केवल उसकी स्मृति की सुरक्षा करनी होती है, जिससे संसार

सदा उन्हें याद कर सकें। जिस प्रकार के गुण-कर्म-स्वभाव वाले व्यक्ति आत्मा या महात्मा हो सो उनके संगत से उनके ही गुण-कर्म स्वभाव आदि का महान आदर्श मिलता है। अग्नि के संगत से उष्णता मिलती है। बरफ के संगत से ठण्ढ मिलती है। वहाँ पर अन्ध-श्रद्धा-भक्ति से धर्म नहीं बदलता। कितनी ही श्रद्धा-भक्ति पूर्ण होकर अग्नि से ठण्ढे को कामना करें, श्रद्धा-भक्ति से सिर फोड़ भी देवें सो विरूद्ध धर्म युक्त ठण्ढ़ा गुण अग्नि से नहीं मिलता।

सिंह की भी माँस को छोड़कर हलुआ-पूड़ी-भात-मिष्टान्न नहीं खाता। गौयें कभी भी अन्न-शाक-सब्जी-घासादि छोड़कर मांसादि नहीं खातीं। अतः संसार में प्रत्येक प्राणी ही अपने-अपने जाति-ब्रादारी के आहार तथा व्यवहार करते हैं। परन्तु मनुष्य इतना श्रेष्ठ दुर्लभ जन्म पाकर भी अपने आहार को पहचान नहीं पाया। सभी जाति के भोजन को खाना चाहता है या खाता भी है। यह एक साधारण बात है कि जो जिस प्रकार अन्नादि खाता है सो उसके अनुसार ही मन-बुद्धि के विचार, आचार, व्यवहार बनते हैं। जिसका जैसा आहार होता है सो उसको मानने वाला वैसा ही करने लग जाता है।

भेड़-बकरी पशु-जनवार कीट-कीटाणु आदि मनुष्येत्तर जितने प्राणी हैं सो सभी में जाति-ब्रादरी का आचार-व्यवहार है। उदाहारण जैसे—एक बकरी के ४ बच्चे हुए। बकरा-बकरी दोनों प्रकार के बच्चे हैं। ४, ६ महिनों के अन्दर अपने भाई-बहन, माता-पिता का भेदभाव नहीं समझते सभी अपने अपने स्त्री के सम विषय वासना की पूर्त्ति के लिए उसकी माँ, बहन, भाई के साथ एक ही व्यवहार करता है। सभी पशु, जनवार, पक्षी, मछली, सर्प कीड़े आदि के इसी प्रकार का व्यवहार है। इनमें माता-पिता, बहन-भाई आदि के भेदभाव नहीं है परन्तु मनुष्य

जन्म दुर्लभ जन्म है। इसलिए कहा है कि गुरु, आचार्य, माता-पिता, भाई-बहनों के लघु गुरु की मान्यता सम्मान, आदर्श बहुत श्रेष्ठ है। यहाँ तक की वैवाहिक सम्बन्ध और विषय भोग आदि का वहुत दूरत्व सम्बंध है। भ्रष्ट खान पान करने वाला वैवाहिक सम्बन्ध भाई वहन का भी नाता पशु के सम जोड़ता है। धर्म के नाम से भी ब्रह्म, सत्य, जगत, मिथ्या कहकर सभी कुछ एक ही है। एक ही पुरुष है तथा एक ही प्रकृति स्त्री है। अतः गुरु, स्वामी, स्त्री, कन्या आदि के नाना भेद नहीं। यही गोपी भाव है, यही राश लीला है।

यहाँ पर विज्ञान की बात यह है कि—जो वस्तु या पदार्थ खाते हैं सो उसका ही शक्ति या परमाणु शरीर में प्रवेश करता है। उस शक्ति तथा परमाणु से ही मन, बुद्धि, इन्द्रियादि प्रचालित होता है। जब मनुष्य जन्म दूर्लभ जन्म के प्राप्त करके, दूसरे निम्न पशु-पक्षी मछली आदि के मांस तथा शरीर को खाता है तव उसके ही शरीर का शक्ति आदि से रस, रक्त, माँस, मेधा, हड्डी, मर्या, बीर्य आदि बनने लग जाता है। उसी शक्ति के द्वारा शरीर के सभी इन्द्रियाँ जब प्रचालित होती हैं तब जैसे-२ शरीर का आमिश भोजन किया सो उस-२ के ही शक्ति-परमाणु या विटामिन द्वारा प्रचालित मन-बुद्धि इन्द्रियादि भी उस-२ प्राणिओं के आचार व्यवहार विषय भोग आदि करने लग जाता है। तब माता पिता गुरु आचार्य भाई बहन का नाता भी निम्न जाति के सम छोड़ देता है और विषय भोग भी पशुओं जैसे करने लग जाता है। अतः मन, बुद्धि, इन्द्रियादि के पतन से उल्टा, आचार, विचार, कर्म, व्यवहार से वर्ण संकर भाव या प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। यही वंश तथा कुल का घातक है। जब विचार, बुद्धि, विवेक, ज्ञान का ह्रास होता है तब अर्थ और स्वार्थ के अनुसार पूजा पर्व भी निरन्तर बदलता हुआ रूप में देखा जाता है।

भगवान के नाम से जितने प्रकार के विषय भोग की बातें हैं सो उसे अनन्त महिमा के रूप में बदल करके वहीं ज्यादा समझ में और भोग में प्रवृत्त होते हैं जिस प्रकार माखन चोरी, गोपी लीला, वस्त्र हरण, प्रेम लीला, गाँजे, भांग, चरसादि मादक द्रव्यों के प्रयोग करना, सेवा दासी रखना, एक स्त्री के ग्रहण के पश्चात् भगवान के गोपी या सेवा दासी के रूप बहुतों के साथ स्त्री समझ कर व्यवहार करने लग जाता है। ये नाना प्रकार की प्रवृत्तियाँ भी मूर्त्ति के दर्शन तथा पूजा पार्वण से ही साधारण लोगों में असानी से प्रवेश करता है क्योंकि भगवानों ने भी ऐसा किया है बोलकर। यह कुप्रचार है।

साधना, तप, ज्ञान, विवेक के अभाव से मनुष्यों का चरित्र बिगड़ता है। चरित्र को लेकर ही कलाकार लोग चित्र बनाता है। चित्र के नाना प्रकार बदलता हुआ रूप प्रत्येक वर्ष देखने को मिल जाता है। नवीवता ही भूख की पराकाष्ठा है। नित्य नव रूप का नशा ही चित्र से मूर्ति या आकृति बना देता है। उस पर ही अन्धा-धूँध श्रद्धा भक्ति पूजा आराधना आदि चलने लग जाता है। मनुष्यों से बनायी हुई मूर्ति की पूजा नहीं होती। जो मूर्ति ईश्वर ने बनाया हुआ है उसकी ही पूजा होती है। ईश्वर के द्वारा निर्माण की हुई मूर्ति के हर कण में ईश्वर अपने कला के साथ समाया हुआ होते हैं। मनुष्यों से बनाया हुआ मूर्ति के अन्दर सरसता निपुणता वास्तविकता यथार्थता का अभाव होता है। ईश्वर की बनायी हुई मूर्ति के अन्दर सभी कुछ अलग-२ स्वरूप रहते हैं। रस रक्त मांस हड्डियाँ केश लोवें आँख नाक कान आदि इन्द्रियाँ मन प्राण क्रिया उन्मेष निमेश संकुचन प्रसारण इत्यादि सभी कुछ वास्तविक होते हैं जो वस्तु जैसी है सो उसके अन्दर उसी प्रकार गुण कर्म युक्त स्वभाव पाये जाते हैं। यह प्रत्यक्ष मूर्त्ति है। प्रत्यक्ष मूर्त्ति की आवश्यकता के अनुसार

सेवा करना ही प्रत्यक्ष पूजा होती है। नकली मूर्त्ति की वास्तविक पूजा नहीं होती। नकली मूति की नकली पूजा होती है; जैसे—के साथ तैसे व्यावहार होता है।

प्रश्न :—वेदाश्रयी जी महाराज ! हमें आपका विरोध करना ही है। क्योंकि मूर्ति पूजा के नाम सुनते ही हम वेचैन होते हैं।

उत्तर :—वेचैनी जिनका स्वभाव है, वे लोग वैसा ही वेचैन रहेगा। उसका कोई दवाई नहीं है। हमेशा खन्डन-मन्डन, झगड़ा, वाद-विवाद, कलह, अश्रद्धा, अकर्मण्यता, निरसता, सौहृद्यता, आतिथ्यता, भक्ति भाव इत्यादि में सर्वत्र ही अव्यवस्था रहती है इसलिए जो श्रेष्ठ कर्म मानते हैं सो वह भी कर नहीं पाते।

प्रश्न :—हम तो महाराज जी ! निराकार ईश्वर को ही मानते हैं।

उत्तर :—निराकार को ही जब मानते हों तब तुम्हारी मान्यता भी निराकार रहेगी। उसमें श्रोता भी निराकार हो जायेगा। यज्ञ भी लोक शुन्य निराकार, सत्संग भी निराकार, अनुष्ठान भी निराकार। इस प्रकार कहने से कोई लाभ नहीं दिखा सकता। साकार में साकार वस्तु के साथ और निराकार में निराकार के साथ सम्पर्क होते हैं। यह साधना लब्ध सिद्धान्त है। अन्तःकरण धर्म है जिसे मानते हो सो उसे भी तो तुम व्यक्त नहीं कर सकते ? अतः जो वस्तु जिस प्रकार है और उसके गुण कर्म स्वभाव अनुसार ही उसके प्रति श्रद्धा भक्ति प्रेम माया ममता दया साधना तप पुरुषार्थ आदि सर्वदा करना चाहिए। कर्म के माध्यम से ही कुछ प्राप्ति होती है।

प्रश्न : वेदाश्रयी जी महराज ! आपने वेदालोक संस्कार दर्पण में मूर्ति पूजा कैसे रख दिया है ? सभी प्रकार के देवी देवता आदि एकत्र किया है ? इसलिए हम अच्छा नहीं समझते ?

उत्तर :—तुमको ही जो अच्छा लगेगा हम उसे एक प्रकार समझदारी नहीं कहेंगे। मैंने जिस प्रकार यज्ञ कर्म का विस्तार या प्रचार किया है उसमें मूर्ति का नाम सुनते ही तुम्हारा दिल दिमाग खोखला पड़ गया अब कैसे समझोगे? इन सभी बातों को बड़े ध्यान से विचार करो! तुमलोग आर्य समाजी हो। पूर्णिमा अमावस्या श्रावणी वर्षेष्ठी पुत्रेष्ठी जन्माष्टमी दीपावली शान्ति-स्वस्ति इत्यादि नाना प्रकार के यज्ञादि पर्वोत्सवों को अवश्य ही मानते हो?

प्रश्न :—वेदाश्रयी जी, महाराज! यह तो सुन्दर कार्य है। प्रकृति माता की विकार है। प्रकृति के अन्दर दैव-दुर्विपाक के शान्ति के लिए भी यज्ञ करना चाहिए। महर्षि दयानन्द के निर्वाण उत्सव करते हैं किन्तु मूर्त्ति पूजा तो नहीं होता?

उत्तर :—यही बात हम तुमसे कहलाना चाहते थे कि यज्ञ कर्म किस लिए है? यह प्रकृति के निमित्त है। प्रकृति से बना शरीर अतः जड़, चेतना जगत के भौतिक विकासवाद की उन्नति के लिए ही यज्ञ करना होता है। तुम लोग यज्ञ को मानते हो। मैं भी मानता हूँ। प्रकृति के सृष्टि प्रक्रिया के शोधन के लिए नाना उपाय से नाना प्रकार के यज्ञ कर्म को करना ही श्रेष्ठ कर्म को बढ़ाना होता है। वेद मन्त्र पाठ का या प्रचार का भी ज्यादा कार्य होता है। यदि तुम्हारी मान्यता के कार्य ज्यादा हों तो तुम्हें बेचैनी से इस प्रकार बोलना उचित नहीं है। पूर्णिमा तथा अमावस्या जिस प्रकार भूमि या प्रकृति माता की मासीक् स्नान के सम है। प्रकृति में भारीपन, आद्रता, ज्वार, भाटा की वेग श्रोत धारा उफाने आती रहती है। नाना रोग सूक्ष्म रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए प्रकृति के अन्दर नाना प्रकार शक्ति के नाना प्रकार क्रिया आदि के नाना नाम होते हैं। इसलिए नाना शक्ति के उपलक्ष्य में

नाना रूप यज्ञ कर्म होते हैं।

तुम लोग मूर्त्ति पूजा को जिस प्रकार मानते हो सो उस प्रकार का कोई भी लक्षण या प्रमाण वेदालोक संस्कार दर्पण से दिखा नहीं सकोगे। मूर्त्ति पूजा में पहले मूर्ति चाहिए पश्चात् पूजार्घ में आतप अन्न कला गुड़ नैवेद्य लाल सूता, पुष्प-दुर्वा घास-विल्वपत्र-हरितकी-धान-जल कलसी आम्रशराव-पत्र-माला इत्यादि अनेक साधन चाहिए। प्राण प्रतिष्ठा, चक्षुदान-आत्मा प्रतिष्ठा-शुद्धि कल्पादि के नाना मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोना, कल्प-गाथा-तुष्टि इत्यादि कहानियाँ मन्त्र-तन्त्र, झाड़ फूँक के शब्द चाहिए। मूर्त्ति को शुद्धि दर्शन के लिए या खाने के समय में अशुचि पूजक लोगों से कपड़े का आड़ाल चाहिए। इत्यादि नाना प्रकार मूर्ति पूजा के कोई भी प्रमाण या प्रकरण वेदालोक संस्कार दर्पण में मिलता है ? जब इसका उत्तर नहीं दे सकते तब तुम्हारा इस "वेदालोक संस्कार दर्पण" के उपर शोर-गुल मचाना निराधार है। हमारे इस "वेदालोक संस्कार दर्पण" की आधार शिला ही यज्ञ कर्म है। यज्ञ कर्म का विरोध करना तुम्हारा मतिभ्रम है। इस ग्रन्थ के उपर जितना उल्टा प्रश्न करोगे सो उतनी ही तुम्हारी पोल खुलेगी।

प्रश्न—वेदाश्रयी महाराज ? आपके वेदालोक संस्कार दर्पण में जब मूर्त्ति या मूर्त्ति पूजा के साधनों का वर्णन नहीं है तब तो मूर्ति पूजा समाप्त हो जायेगी और आपका संस्कार दर्पण भी व्यर्थ हो जायेगा ?

उत्तर—जब तक लोग वेदों को स्वीकार करेंगे तब तक यह 'वेदालोक संस्कार दर्पण' भी चलता रहेगा। प्रकृति के नाना शक्ति का प्रभाव प्राणी मात्र के द्वारा नाना रूप में प्रकट होने से यज्ञ भी नाना रूप से लोग पर्व के नाम से करते रहेंगे। अतः दुनिया की चिन्ता न करके अपने श्रेष्ठ

कर्म-ज्ञान-उपासना के उपर पहले चिन्ता-भावना करो और तत्परता से उसमें लग जाना ही श्रेष्ठ है। अन्यथा पतन है।

प्रश्न—महाराज जी ! ये सभी व्यवस्थायें हम नहीं मानेंगे। आपने भगवान राम-कृष्ण तथा सभी देवी देवताओं को वेद से प्रमान दिखाया है। यह एक भ्रष्ट तरीका है ?

उत्तरी—देखो ! पहले नाराज मत होवो। पहले ही खण्डन--मण्डन करके लोगों को बिगड़ने से वे लोग सदा ही तुम्हारी दृष्टि में बिगड़ा हुआ रहेंगे। निम्न कारणों पर पहले विचार करो—वैदिक सिद्धान्तों में जो सर्वत्र रमे हुए हैं सो वही राम है, जो त्रिगुणात्मक प्रकृति में सर्वत्र होता हुआ भी अन्धकार के सम एकाकार अवर्णनीय है सो घोर अन्धकार के कारण कृष्ण है। पञ्च महाभूत के दिव्य पदार्थों में शक्तियाँ प्रकट होती हैं सो उसे देवी-देवता कहते हैं। अनन्त शक्तियों के अनन्त देवी-देवता सिद्ध हैं। क्या-२ उद्देश्य इस वेदालोक संस्कार दर्पण से है। यथा

(१) कर्म काण्डों में "यज्ञं वै सर्वश्रेष्ठतम कर्मः" हिसाब से यज्ञ को ही करने के लिए सर्वत्र प्रवेश करता हूँ। (२) वेद मन्त्रों से ही वेद भगवान को लेकर पहुँचने का अवसर मिलता है। (३) मूर्ति पूजक तथा अन्य सभी सम्प्रदाय के लोग मिल जाते हैं। वहीं पर जब वेद मन्त्रों के यथार्थ स्वरूप को बोलता हूँ तब सभी लोगों में वेद का ही प्रचार तथा वैदिक सिद्धान्तों को साधारण जनता में अवगत कराता हूँ। उसमें किसी को भी समस्या नहीं रहती। (४) यज्ञ से सुगन्ध रूप परमाणु ही सर्वत्र फैलता है। लोगों को तथा सृष्टि को सहयोग होता है। वायु मण्डल शुद्ध, पवित्र, निर्मल होता है। (५) लोगों में साधना वृत्ति से मति-गति होती है। (६) वेद का मन्त्र पाठ तथा श्रवण से सभी को लाभ

पहुँचता है। (७) जिन लोगों को वेद का दर्शन तथा मन्त्र श्रवण को ही

जीवन में सुअवसर नहीं मिला है सो वे भी सन्तुष्ट होते हैं। (८) सभी लोगों को घृत सामग्री आदि को क्रय करके अग्नि को स्वाहा बोलकर प्रदान करने का अवसर मिल जाता है।

अब हम यदि पहले ही देवी-देवताओं के नाम लेकर खण्डन-मण्डन आरम्भ करें तो उनके हृदय में पहले ही शत्रु भाव उत्पन्न होने से हमारी कितनी ही ज्ञान धारा का प्रचार हो परन्तु दुःखी क्रोधि व्यक्तिओं को उस अवस्था में हम कुछ भी सीखा नहीं सकते लेकिन मारा-मारी, पिटा - पिटी, दण्डा - दण्डी, हाना - हानी, ग्रुपबाजी, गाली - गलौज, खुन-खराबी, साम्प्रदायीक झगड़ा, ईर्षा-द्वेष इत्यादि सभी वातावरण उत्पन्न होकर; हम भी विद्वान लोग; उन परिस्थितियों के लीडर बन जायेंगे।

अतः वर्तमान समय में इस प्रकार के व्यवहारों को बदल करके नये-२ रूप से श्रद्धा-भक्ति प्रेम के साथ उन्हें अपनाने से शत्रु भी मित्र बन जाता है। मित्र होने से चाहे उन्हें कैसे भी तुम अच्छे पथ पर लेना चाहो सो सरल उपाय बनता जायेगा ये ही हमारा मुख्य उद्देश्य है।

प्रश्न—हम ऐसे लोग हैं कि उस प्रकार लिपा-पोती की बातें पसन्द नहीं करेंगे। हमें यथार्थ सत्य धर्म का प्रचार करना है ?

उत्तर—तुम्हारे लिए दुनिया खुली हुई है। जब हमारी विधि को नहीं मानोगे तो—हमें कुछ करने का नहीं है। तुम्हें लड़ना ही है तो लड़ते रहो। हमारे सिद्धान्तों में लड़ना नहीं है। केवल करना और करवाना ही है। हमारा "वेदालोक संस्कार दर्पण" जिनके हाथों में जायेगा सो वह अपने विचार से ही पढ़कर वहीं पर वे लोग 'वेदालोक समाज' का संगठन करते रहेंगे। वेद भगवान की ऐसी महिमा है कि—इस "वेदालोक ग्रन्थ में" सभी कर्मों के पूरक बनकर ज्ञान-कर्म और

उपासना का उपाय ढूँढ़ लेने की व्यवस्था सभी कुछ तैयार है। वेद का ही प्रमाण से सभी शंकाओं का समाधान कर लेंगे।

प्रश्न—आपने जो-२ प्रकरण दिया है सो सभी को वेद मन्त्रों के अर्थ तो नहीं दिया है तो कैसे समझेंगे ?

उत्तर—इन सभी प्रकरणों का अर्थ देने से यह "वेदालोक संस्कार दर्पण" विशाल रूप धारण करेगा। अब धीरता से आने वाले लोगों की इच्छानुसार सभी कुछ होता रहेगा। हमने तो बीज रूप से पौधे को अंकुरित करके लगा दिया है। इसे फल खाने वाले ही आदर-सत्कार तथा यत्न-प्रयत्न से बढ़ता रहेगा और हरा-भरा, फल-फूलों से परिपूर्ण रहेगा।

प्रश्न—आपने तो तब अलग कोई समाज बना लिया होगा ?

उत्तर—मैंने कोई समाज नहीं बनाया। जब "वेदालोक संस्कार दर्पण" के अनुसार लोग चलेंगे तो—वे लोग अपना साथी-संगी को निर्माण करके एक संगठन में जब बैठेंगे तभी तो समाज ही कहलायेगा। उसमें तुमको सिर दर्द नहीं होना चाहिए।

प्रश्न—हमें भी तो इसके विरोध में खड़ा होना है ?

उत्तर—देखो ! जो लोग ज्ञान-कर्म-उपासना में अच्छे पथ पर लगे हुए होते हैं सो वे लोग विरोध करने का उपाय सोच विचार ही नहीं कर पाते। उनके पास व्यर्थ सामग्री ही नहीं होता। लड़ने बिगने वालों का अपना कोई कर्म धर्म नहीं होता। वे लोग केवल छिद्रान्वेषी होते हैं। इसलिए वे लोग कभी महान जीवन के आदर्श का निर्माण नहीं कर सकते। अतः पहले सोचो-समझो-करो ? पश्चात श्रेष्ठ जीवन आदर्श के निर्माण के लिए उसमें ही आमरण चेष्टा करो। बनोगे तो वेद का ही प्रचारक। अतः शुद्ध वैदिक धर्म के प्रचार का विरोध करना नहीं चाहिए। सुकृतिकारियों के विकास और दुष्कृति निष्कर्मकारियों के विनाश के

लिए ही सर्वदा उद्यत रहना चाहिए अर्थात सुकृतिकारियों के विकास ही निष्कर्मों दुष्कर्मकारियों का विनाश स्वभाविक हो जाता है।

प्रश्न—वेदाश्रयी जी महाराज ! सच्ची पूजा किसे कहते हैं ?

उत्तर—जहाँ पर मूर्त्ति के नाम से आवश्यकतानुसार पूजार्घ प्रदान किया जावें सो उसे सच्ची पूजा कहते हैं। गौ को घास-अन्न-साग आदि प्रदान करने से उसे गौ पूजा कहते हैं। उसे वापस नहीं मिलेगा। शेर को मांस देना ही शेर की पूजा है। गुरु को अन्न-फल-वस्त्र-विनय वाक्यादि अर्पण करना गुरु पूजा है। उसी प्रकार पिता-माता-आचार्य आदि की पूजा होती है। फोटों को कांच या शीशे आदि से सुरक्षा करना ही फोटो पूजा से दीर्घ दिन लाभ उठाना है। मूर्ति का पथ आदि से महान पुरुषों की स्मृति रक्षा के लिए सुन्दर उपायों को बरतना भी पूजा है। अग्नि घृत समिधा चन्दन सामग्री ओषधि आदि से शुद्ध रूप मन्त्र द्वारा विधिवत प्रदान करना ही अग्नि पूजा है अर्थात जहाँ-२ जिस २ वस्तु पदार्थ आचार व्यवहारादि से उसकी सुरक्षा स्थायित्व वृद्धि सन्तुष्ट अनुकूलता का व्यवहार हो उसे पूजा कहते हैं।

पूजा के दो पहलू हैं जड़ और चेतन पूजा। जड़ पूजा से जड़ वस्तु पदार्थ या जड़ जगत की पूजा होती है। चेतन पूजा से चेतना ज्ञान विवेक, विचार, साधना, उपासना की वृद्धि होती है। देने को दान कहते हैं। दान वापस नहीं होता। जिसे दिया जाता है उसकी प्राप्ति कामना या भोग करना ही पाप है। देने से ही दिव्य भावना पैदा होती है। इसलिए निरन्तर जो देते हैं सो उसे देवता कहते हैं। भूमि-जल वायु-आकाश-अग्नि को देवता इसलिए कहलाता है कि निरन्तर उससे हम प्राप्त ही करते रहते हैं। उसका हम उपयुक्त मूल्य दे नहीं सकते। मनुष्य उन सभी देवताओं से प्रकाश-विद्युत-जल-वायु-अग्नि आदि नाना शक्ति

संग्रह करके उसके मूल्य लेते हैं परन्तु एक दिन के सूर्य के प्रकाश का सारी दुनियाँ मिलकर भी उसका मूल्य चुका नहीं सकती। अतः पञ्च भौतिक देवता उसका मूल्य नहीं चाहते। इसलिए निरन्तर देने वाले को देवता कहते हैं। जो-२ महान आत्माए हैं सो उन्हें भी देवता तुल्य कहते हैं क्योंकि दुनियाँ में सर्वदा ही महानता को प्रदान करते ही रहते हैं। परवर्ती काल में उन्हें ही देवी-देवता, भगवान कह कर पुकारते हैं। जो निरन्तर देता है सो वही देवता है। ईश्वर ही सभी में मूल देवता है। जो सर्वदा लेना ही चाहते हैं सो उसे राक्षस कहते हैं। लेकर देना ही ऋण मुक्त या ऊऋण कहते हैं। लेकिन जो गन्दे ढङ्ग से प्रयोग करते हैं सो उसे पिशाच कहते हैं। जितने रूप से लेता है सो उसके सम्मान या निरादर करने वालों को दैत्य-दानव-राक्षस कहते हैं। जितना हिस्सा तौल करके या मान करके लेते हैं और उतने के बराबर मान से प्रदान करते हैं सो उसे मानव कहते हैं। मनुष्यों का ये ही परिचय है। मान कहते हैं तौल या हिसाब को। अब माने रक्षा करना अर्थात् जो लोग सुन्दर रूप से हिसाब मान आदि न्याय-अन्याय का विचार पूर्वक श्रेष्ठ की सुरक्षा करते हैं सो वही मानव है। देकर लेनें की भावना से पूजन करना ही नारकीय पूजा कहते हैं। देकर उसे लेना ही पाप है। न लेना ही त्याग है। उससे दिव्य शक्ति उत्पन्न होती है। किसी को भी दान देकर लेने से ही कुआशीर्वाद मिलता है। ग्रहिता उसे शाप देते हैं। अग्नि को देने से उसे कोई ले ही नहीं सकता। अग्नि देव दाता को भी जब देकर वापस लेते समय में ही जला देता है। अतः देकर लेने की भावना ही पापाग्नि में दग्ध होना होता है। अग्नि को यज्ञ के रूप में देना ही निष्काम कर्म है। अन्यत्र अर्थात जहाँ पर देकर उठा लेने की भावना है सो वह सकाम पूजा है। सदा के लिए देना ही निष्काम पूजा है। अग्नि को देने

से ही सभी को मिलता है। अग्नि देव ही वितरण करता है। स्वार्थी लोग अपनापन से वितरण करता है। अग्नि देव शत्रु-मित्र-जड़-चेतन जगत के सभी को समभाव से प्रदान करता है। ओषधि-वनस्पति आदि समस्त संसार को ही प्रदान करने से अग्नि पूजन ही सर्व श्रेष्ट यज्ञ कर्म है। इसलिए ही "यज्ञ वै श्रेष्ठतम कर्म" कहा है। अग्नि देवता में दुनियाँ के किसी के साथ भी पक्षपात दोष नहीं है। अग्नि के द्वारा ही संसार के सभी देवी देवतादि जड़-चेतन संसार के सभी को ही मिल जाता है। इसलिए वेद में सर्वत्र यज्ञ का ही वर्णन है। ईश्वर ने यज्ञ कर्म के द्वारा ही समस्त ब्रह्माण्ड को पैदा किया है। यज्ञ में देना ही सभी को प्राप्त करना होता है।

जिस प्रकार अपने पेट में दिया हुआ आहार्य वस्तु जठर अग्नि पचा देने से सूर्य रूप आँखें, जल रूप रसना, भूमि रूप नासिका, वायु रूप चर्म, शब्द रूप कान आदि शरीर के चोटी से पैर तक शरीर ब्रह्माण्ड के सभी को मिलता है ठीक उस प्रकार ही अग्नि को प्रदान करने से समस्त ब्रह्माण्ड के सभी को सब कुछ प्राप्त हो जाता है। अतः यज्ञ के रूप में सभी को प्रदान करना ही सर्वश्रेष्ठ कर्म है। वेद में इसका ही गुण-गान किया है बोलकर ही हमने केवल ईश्वरकृत वेद मन्त्रों से ही "वेदालोक संस्कार दर्पण" ग्रन्थ का चयन किया है।

प्रश्न—हम तो वेद के अनुसार मूर्ति पूजा मानेंगे ही नहीं। इसमें पतन होगा और लोगों में भ्रम उत्पन्न हो जायेगा।

उत्तर—ऐसा कहने मात्र से ही पतन हो गया है समझना चाहिए क्या? अब बोलो कि तुम क्या मानते हो? कहीं पर भी किसी को शान्ति से कर्म करने दोगे या नहीं?

प्रश्न—हमारा केवल एक मात्र वेद ग्रन्थ को ही मान्यता है। वेद

ही सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सभी आर्यों का परम धर्म है। यही बात हम यथार्थ रूप से मानते हैं।

उत्तर—वेद में ऐसा नहीं कहा है। वेद का कहना है कि "यथेमां वाचं कल्याणिः" यजु०—२६।२॥ हे मनुष्यों यह वेद वाणी मैंने ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शुद्र-नौकर-चाकर-जंगली यायावर अर्थात जो लोग अरण्य या जंगली हैं सो सभी मानव के लिए उपदेश कर रहा हूँ। यहाँ पर केवल आर्यों के लिए ही वेद का चयन करना पक्षपात है। आर्य तो श्रेष्ठ हैं ही। जो लोग श्रेष्ठ नहीं हैं सो उन्हें ही श्रेष्ठ बनाना तथा श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ होकर सर्वश्रेष्ठ ईश्वर को प्राप्त करने के लिए ही वेद ज्ञान को मावन मात्र के कल्याण के लिए प्रदान किया है। यह वेद ज्ञान को समाज विशेष के लिए भाग करना ठीक नहीं है।

प्रश्न—आप हमारी बात का खण्डन न करें। वेद की बात सर्वदा स्वीकार कीजिए।

उत्तर – जब बात उठाते हो तो बोलना ही पड़ता है। मैं हर बात में वेदों के आधार पर ही निर्भरशील होकर बात करता हूँ।

प्रश्न—आप वैदिक सनातन धर्म को मानते हो?

उत्तर—मैं शुद्ध वैदिक सनातन धर्म को ही मानता हूँ।

प्रश्न—इसमें शुद्धता की बात क्या है वेदाश्रयी जी महाराज?

उत्तर – शुद्ध रूप से वेद के आश्रय लेने से ही समझ सकोगे। इसमें बहुत रहस्य है। जब यह बातें सभी को मान्य है कि—वेद ज्ञान पूर्ण है; ईश्वरकृत है तब केवल वेद का ही आश्रय होना चाहिए। नाना ऋषि-मुनियों के श्लोक सूत्र-कण्डिका-शाखा आदि से जब कर्म काण्ड का भरपुर किया है तब वेद की मान्यता कम होती रही। नाना मुनिओं

का नाना मत-मतान्तर बनता चला गया। अब तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना, झाड़-फूँक इत्यादि में लोगों की आस्था बढ़ती गई। वेद माता शुद्धता के स्थान पर नाममात्र रह गई। अन्त में दिल-दिमाग-घर-ग्राम-देश से ही विपरीत हो गई थी। हमारे वेद ज्ञान दाता महान गुरु महर्षि दयानन्द की कृपा से जो वेद संहिता विद्या की प्रचार हुई। अब हमें यह बात समझ में नहीं आती कि—युगावतार महर्षि दयानन्द के संस्कार विधि में लगभग २० प्रतिशत वेद मन्त्र शुद्ध रूप से हैं और ८० प्रतिशत वेद मन्त्र नहीं है। नाना प्रकार सूत्र-ग्रन्थ-शाखा-कण्डिका आदि से भरपूर क्यों है ?

प्रश्न—आर्य समाज की महानता आप नहीं समझोगे ? ऋषि-मुनिओं की जो बात वेदानुकूल है सो वहमी आर्य पद्धति के रूप में मन्त्र के सम मान्यता है इसलिए हम इसे वैदिक पद्धति मानते हैं।

उत्तर :—यह बात भी कहना ठीक नहीं है। हम सीधी बात को समझते हैं। टेढ़ी बात को नहीं लेतें। प्रत्यक्ष रूप से चारों वेद इतने विशाल हैं कि इसमें कोई कमियाँ ही नहीं हैं। यदि अभाव हो तो ईश्वर की बुद्धि कम थी बोलकर ऋषियों ने पूर्ण किया होगा ? वेद के अर्थ निकलने से ही यदि वेद मन्त्र से भी ज्यादा मान्यता होवें सो इस प्रकार कहना ही गलत है। क्योंकि – गीता में "त्वमादि देवः पुरुषपुराण० गुरु ग्रन्थ साहब के पहले शब्द—'हिक ओं अंकार सत् नाम कर्त्ता पुरुख निर्पयो०' इत्यादि और भी लोक भाषा-गीत आदि हैं जिसमें वैदिक अर्थ निकलता है। इसलिए उसे वेद मन्त्र बोलकर स्वीकार करना ठीक नहीं है।

प्रश्न :—ओम् जोड़कर ऋषिओं के सूत्र ग्रन्थों को बोलने से वेद मंत्र के सम स्वीकार करते हैं। यही हमारी मान्यता है और रहेगी।

उत्तर :—यह बात भी गलत है। ऐसा कहने से श्लोक सूत्र ग्रन्थ,

शाखा कन्डिका लोग भाषा-गीत आदि वैदिक अर्थ युक्त को भी ओम् लगाकर मन्त्र समझकर यज्ञ में आहुति का प्रदान करता रहेगा। अन्त में शुद्ध वेद सनातन धर्म का पतन होवेंगा, ऐसा ही हुआ भी है और हो भी रहा है। अतः ईश्वरीय वेद ज्ञान में कर्म काण्ड के विनियोग युक्त व्यवस्था का कोई अभाव नहीं है उसमें समझने का ही हेर-फेर है। इस लिए केवल शुद्ध, नित्य, शाश्वत सनातन धर्म वेद को ही समझना श्रेय है। नाना मुनि-ऋषिओं के नाना प्रकार कर्म विनियोग से वेद की अखण्डता नहीं रही। मैं वेद को हीं अखण्ड, शुद्ध, वैदिक, सनातन के रूप में स्वीकार करता हुँ। इसमें कुछ भी अभाव नहीं है केवल समझदारी का अभाव हो सकता है।

प्रश्न :—आप ऋषि-मुनिओं को नहीं मानते ?

उत्तर :—वेद ज्ञान के रूप में ऋषिओं की बातें प्रवेश कराकर ही मान्यता तथा अमान्यता की बातें पैदा हुई है। मुसलिम धर्म के प्रचारक पीर, मोल्लाओं की बातें रोजा, नामाज में कुरान के सम नहीं मानते लेकिन कुरान के अनुसार चलने का उपदेश करते हैं। उसी प्रकार ही खीष्ठ, बौद्ध इत्यादि सम्प्रदायों के लोग भी अपने-अपने एक ही ग्रन्थ की मान्यता होने से सार्वभौमता मिलती है किन्तु वेद के ज्ञान कर्म-उपासन में नाना मुनिओं के नाना मत प्रवेश करने से ही उस वेद ज्ञान की शुद्धता और अखण्डता समाप्त हो गई और सनातन के नित्यत्व का अस्तित्व समाप्त हो गया। नाना झगड़ा की समस्या विद्वानों में भी पैदा हो गई। इसलिए मैं केवल शुद्ध वेद को ही सब सत्य विद्याओं का मूल श्रोत मानता हूँ। केवल मान्यता ही नहीं। ज्ञान - कर्म उपासना में भी प्रमाण सह प्रयोग करता और करवाता हूँ। उसी ढङ्ग से ही यह "वेदालोक संस्कार दर्पण" का भी चयन किया हूँ।

प्रश्न :—हम तो आपके 'संस्कार दर्पण' को स्वीकार नहीं करेंगे।

उत्तर :—तुम लोग वेद मन्त्रों की शुद्धता को स्वीकार नहीं करोगे तो मुझे क्या है ? और जो लोग विद्वान, बुद्धिमान, ज्ञानवान, विचारवान लोग यदि स्वीकार करेंगे तो तुम्हें क्या सिर दर्द है ? दुनिया में कोई किसी का ठेका नहीं लिया है; सभी को—इतनी बात अवश्य ध्यान रखता हैं कि बुरे, खोटे कर्म करने वाले जब अपना पाप कर्म नहीं त्याग देता तो हमारे अन्दर जो अच्छाइयाँ हैं सो उसे क्यों छोड़े ?

प्रश्न :- आप आर्य समाज में पढ़े हो, उपकार पाया हो उसे भूलाना या खण्डन करना आपको उचित् नहीं है।

उत्तर :—मैं महर्षि दयानन्द सरस्वती का कृपा पात्र होकर वेद ज्ञान को प्राप्त किया। वेद ही मानव मात्र का धर्म ग्रन्थ है बोलकर वेद को ही मानता हूँ। आर्य समाज वेद नहीं है और वेद केवल आर्य समाज का ही नहीं है। आर्य समाज का अनन्य ग्रन्थ वेद है। मेरा भी अनन्य ग्रन्थ वेद है। अतः मेरा "वेदालोक संस्कार दर्पण" वेद की ही देन है। इसलिए शुद्ध सनातन धर्मी वेद को जो स्वीकार करते हैं सो वे लोग सभी मेरे लिए स्वागत के पात्र हैं। जो लोग स्वीकार नहीं करते सो वे लोग मेरे लिए घृणा का पात्र नहीं है। सभी लोग अपने-अपने कर्मों में स्वतन्त्र हैं। शुद्ध वैदिक सनातन धर्म वेद को मानने वालों में परतन्त्र रूप से स्वीकार करना एक शृङ्खला युक्त जीवन यात्रा है। शुद्ध वेद का प्रचार करना ही बुद्धिमानों के कार्य है।

प्रश्न :—वेदाश्रयी जी महाराज ! आपके वेदालोक संस्कार दर्पण में मूर्त्ति पूजा के नाम से हम बेचैन हैं।

उत्तर :—यही घुमा-फिरा कर बार-बार कहना पागलपन है। तुम लोग दैनिक दोनों समय में यज्ञ करना स्वीकार करते हो परन्तु

रोजाना एक बार या सप्ताह में एक बार या महिनों तथा वर्षों में हो सके कभी दो एक बार यज्ञ करते हो। यहाँ पर दौनिक दोनों समय यज्ञ कर्म करने के लिए बेचैन क्यों नहीं होते? ये भी तो एक प्रकार की खुराफात है? मैं सभी के पास जाता हूँ और अपना शुद्ध वैदिक यज्ञ रूप ज्ञान भण्डार को दोकान खोलता हूँ। उसमें दोनों कान भी पवित्र होते हैं। तुम लोग हमारे शुद्ध वेद मन्त्रों से यज्ञ करना सुगन्ध विस्तार करना तथा हरेक के पाछ जाना, वेद का प्रचार करना देखकर यदि जलते हो या बेचैन रहते हो तो इसकी दवाई ईश्वर ही पिलायेगा। हमारे पास आकर झगड़ा की बात ही करते हुए जलते रहोंगे। अतः अब तुम्हें चाहिए कि—शुद्ध, विज्ञान संगत सार्वजनिक उन्नति के लिए केवल वेद और वेद ज्ञान दाता सृष्टि कर्त्ता एक ही ईश्वर के प्रति श्रद्धा भक्ति, प्रेम भाव उत्पन्न करो, अन्यथा ईर्षा, द्वेष, राग, काम, क्रोध, झगड़ा, अशान्ति को छोड़ और कुछ नहीं मिलेगा। इसलिए अब सभी को चाहिए कि—वेद का शुद्ध रूप से सार्वजनिक हितकर कार्य में प्रयोग करें। लड़-झगड़ करने वाले के कभी भी अच्छे दिल, दिमाग, पवित्र और उत्तम वायु मण्डल का निर्माण नहीं होता। उसमें परस्पर द्वेष, शत्रुता, पक्षपात, ऊँच, नीच, भेद-भाव, साम्प्रदायिकता का वतावरण उत्पन्न होता है।

हम तो अब इस निष्कर्ष में पहुँचे हैं कि भाई-भ्रादारी के साथ परस्पर अशान्ति उत्पन्न करके परस्पर हृदय भाव उत्पन्न नहीं होता। अपना धर्म की अवनति होती है। सभी का यही लक्ष होना चाहिए जिसमें अच्छा से अच्छा कार्य निरन्तर होता रहें। वैदिक सनातन सिद्धान्तों पर निरन्तर, योग, यज्ञादि कार्य में सन्लग्न रहना चाहिए। जब मनुष्य

वास्तविकता को समझ लेंगे तब कोई भी समस्या नहीं रहेगी। अपने

आप ही ठीक होने लग जाता है। कभी एक समय था कि कोई भी मूर्ति पूजक नहीं था, कभी ऐसा हुआ कि सभी मूर्ति पूजक बन गए। उसके विरोध से ही मुसलिम बने तथा 'पौत्तजिक रहें। पुनः पौत्तलिक से ही आर्य समाजी बने। इस प्रकार दुनिया में न जाने कितने प्रकार से रद्दो-बदल हुआ और होता भी रहेगा सो उसका कोई ठेका या जिम्मेदारी नहीं ले सकता। अतः यही महत्वपूर्ण है कि—स्वयं सर्वदा श्रेष्ठ पथ पर वेद का अनुकरण करते रहें। उससे ज्ञान प्राप्त होगा और उसी अनुभव सिद्ध ज्ञान के प्रचार से ही संगठन बनेगा। जब व्यक्ति उत्तम उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव युक्त, ज्ञान, कर्म, उपासना, स्वाध्याय, योग, तप, साधानादि में लगा रहेगा तब दूसरों की निन्दा, आलोचना, झगड़ा पक्षपात आदि कर्मों में लगने का ही समय नहीं मिलेगा।

निष्कर्ष की बात एक ही है कि तुम लोगों की लड़ाई केवल अपने भाई भ्रादारीओं के साथ ही चलती है और आपस में अपने लोग ही घट रहा है। विदेशी दूसरा सम्प्रदाय ही बढ़ रहा है। इसमें तुम्हें हमें क्या मिल रहा है?

प्रश्न—महाराज जी आप दुर्गा पूजा को किस प्रकार मानते हैं?

उत्तर—दुर्गा पूजा की यथार्थता इस प्रकार है कि यह एक राष्ट्रीय पूजा है। राजा लोग या धनवान लोग ही करते हैं; यह गरीबों के लिए नहीं है। यह एक महान राष्ट्र की सुरक्षा यज्ञ है। राजा राष्ट्र की किस ढङ्ग से रक्षा करता है सो उसके विराट आयोजन की परीक्षा है। किस-किस प्रकार से शक्ति को अर्जन किया है सो उसका वार्षिक आयोजन तथा हिसाब की परीक्षा है। प्रजा में राष्ट्रीय भावना को उत्पन्न करने के लिए शक्ति परीक्षण है। प्रकृति के अन्दर भी सत् परिवर्तन का एक विराट संग्राम है जिससे वृत्रासुर या बादलों के घनघोर ताण्डव नृत्य रोजाना

होता रहता है। प्राकृतिक दुर्योग का घन-काल-कराल रूप से संग्राम चलता है। प्रत्येक मन्त्र में ही राष्ट्र शक्ति के वृद्धि और दुष्ट के दमन का भाव प्रधान मिलता है। यहाँ से आगे चलकर जितने यज्ञीय पूजा का वर्णन है सो उसे प्रकृति की महिमा, मानस वृत्ति की महिमा, बुद्धि का खेल, आत्म उन्नति के साधना नाना प्रकार के विकार से शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक संग्रामों का ही मूल तत्व समझना चाहिए। सभी प्रकरणों के मन्त्रार्थ देने से विशाल ग्रन्थ का रूप हो जायेगा बोल कर कर्म काण्ड के अनुकूलता को देखते हुए संक्षेप में यज्ञ कर्म की ही सुविधा को दिखाया है। नवरात्रि-नवधा शक्ति-नौरात्रि के उपवास, प्राकृतिक शरीर के शोधन का भी महत्व है। दुर्गम पथ में चलकर भयंकर बाधा-विघ्नों का अतिक्रम करने की शक्ति को ही दुर्गा शक्ति कहा है।

यहाँ से जितने प्रकार के यज्ञ कर्म पर्वीय पूजा उपलक्ष में वर्णन किये हैं सो पहले के १७ दर्पण के सभी कार्य करके गायत्री मन्त्र के आहुति देने से पूर्व सभी पर्वोत्सवों में देवी-देवता के नाम से निम्न मन्त्रों के अनुसार उस-२ दर्पण के द्वारा मन्त्र बोलकर आहुति देवें। पश्चात प्रायश्चित आहुति और पूर्णाहुति आदि कर्म विधिवत पहले के सम रोजाना यज्ञ करना चाहिए।

॥३१॥ दुर्गोत्सव यज्ञ।

ॐ विदुर्गा विद्विषः पुरोघ्नन्ति राजान एषाम्।
नयन्ति दुरितातिरः॥ ऋ० १।४१।३॥

ॐ विश्वानि नो दुर्गहा जातवेदः सिन्धुं न नावादुरितातिपर्षि।
अग्ने अत्रिवन्नमसा गृणानोऽस्माकं बोध्यविता तनूनाम्॥

ओ३म् नाहमतो निरया दुर्गहैतत्तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि।
बहूनिमे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै॥
ओ३म् ते घेदग्ने स्वाध्योऽहा विश्वा नृचक्षसः। तरन्तः स्याम दुर्गहा।
ओ३म् अग्ने बाधस्व विमृधो विदुर्गहापामीवामप रक्षांसि सेध।
अस्मत्समुद्राद् बृहतो दिवो नोऽपां भूमानमुप नः सृजेह॥
ऋ० ५/४/६॥ ऋ० ८/४३/३०॥ ऋ० १०/९८/१२

ओ३म् बृहस्पतिर्नयतु दुर्गहा तिरः पुनर्नेषदघशंसाय मन्म।
क्षिपदशस्तिमप दुर्मतिं हन्नथा करद्यजमानाय शं योः॥
ओ३म् इयंदेव पुरोहितिर्युवभ्यां यज्ञेषु मित्रावरूणावकारि।
विश्वानि दुर्गा पिपृतं तिरो नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदानः॥
ओ३म् स नो वोधि पुर एता सुगेषूत दुर्गेषु पथिकृद्विदानः।
ये अश्रमास उरवो वहिंष्ठास्तेभिर्न इन्द्राभि वक्षिवाजम्॥
ऋ० १०/१८२/४॥ ऋ० ७/६०/१२/॥ ऋ० ६/२१/१२॥

ओ३म् इन्द्रं मित्रं वरूणमग्निमूतये मारूतं शर्धो अदितिं हवामहे।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥
ओ३म् त आदित्या आ गता सर्वतातये भूत देवा वृत्रतूर्येषु शम्भुवः।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निस्पिपर्तन॥
ओ३म् अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उतदेवी देवपुत्रे ऋतावृधा।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥

ॐ नराशंसंवाजिनं वाजयन्निह क्षयन्दीरं पूषणं सुम्नैरीमहे ।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन ॥
ॐ बृहस्पते सदमिच्छन्नः सुगं कृधि शं योर्यत्ते मनुर्हितं तदीमहे ।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन ॥
ॐ इन्द्रं कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिं काटे निबाण्हह ऋषिरन्हनदूतये ।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन ॥
ॐ देवैर्नो देव्यदितिर्नि पातु देवस्त्राता त्रायतामप्रयुच्छन् ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥

ऋ० १।१०६।१-७

ॐ य एवं विदुषेऽदत्त्वाथान्येभ्यो ददद् वशाम् ।
दुर्गातस्मा अधिष्ठाने पृथिवी सहदेवता ॥
ॐ मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती ।
सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥

ॐ पराकूते ज्योतिरपथंते अर्वांगन्यत्रास्मदयना कृणुष्व ।
परेणेहिनवर्ति नाव्याइ अति दुर्गाः स्रोत्या मा क्षणिष्ठाः परेहि ॥
ॐ मा त्वा दभन् परियान्तमाजिं स्वस्ति दुर्गां अति याहि शोभम् ।
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि ॥
ॐ अजारोह सुकृतां यत्रलोकः शरभो न चत्तोऽति दुर्गाण्येषः ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः सदातारं तृप्त्यातर्पयाति ॥

अथ० १२/४/२३ ॥ अथ० १४/२/११ ॥ अथ० ६/५/६

ॐ ये ते रान्यनडवाहस्तीक्ष्णश्रृङ्गाः स्वावशः ।
तेभिर्नो अद्य पारयाति दुर्गाणि विश्वहा ॥ अथ० १६।५०।२ ॥

ॐ एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशं विशं युद्धाय सं शिशाधि ।
अकृत्तरूकृत्वया युजा वयं द्यु मन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि ॥
अथ० ४/३१/४

१४०। लक्ष्मी-पर्वोत्सव यज्ञ ।

ॐ सक्तु मिवतितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ॥

ॐ उतत्येमा ध्वन्यस्य जुष्टा लक्ष्मण्यस्य सुरुचो यतानाः ।
मन्हारायः संवरणस्य ऋषेर्व्रजं न गावः प्रयता अपिग्मन् ॥

ॐ श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम् । इष्णान्निषाणामुं मऽइषाण सर्वलोकं मऽइषाण ॥

ॐ प्रपतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत ।
अयस्मयेनाङ्केन द्विषतेत्वा सजामसि ॥

ॐ यामा लक्ष्मीः पतयालूर जुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम् ।
अन्यत्रास्मत् सवितस्त्वामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः ॥

ॐ एकशतं लक्ष्म्योऽमर्त्यस्य साकं तत्वा जनुषोऽधि जाताः ।
तासां पापिष्ठा निरितः प्रहिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नियच्छ

ॐ एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव ।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥

अथ० ७/११५/ १-४

यहाँ से पुर्णिमा के चार आहुति देकर पूर्ववत् पुर्णाहुति करें। क्योंकि पुर्णिमा में ही प्रकाश ज्योति लक्ष्मी श्री कान्ति होती है। धन-ऐश्वर्यों का चमक या प्रकाश से सम्पर्क है। प्रकाश का आनन्द सौन्दर्य से है। सौन्दर्य का द्योतक धन ऐश्वर्यों से है इसलिए धन ऐश्वर्यों को ही लक्ष्मी कहते हैं।

।४१। काली-पूजा पर्वोत्सव यज्ञ ।

ॐ कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥
ॐ सप्त चक्रान वहति कालएष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वाभुवनान्यञ्जत् कालः सईयते प्रथमो नु देवः ॥
ॐ पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः ।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥
ॐ कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत ।
कालेह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥
ॐ कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः ।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति ॥
ॐ काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् ।
कालेन सर्वा नन्दन्ति आगतेन प्रजा इमाः ॥

ओ३म् काले तपः काले ज्येष्ठं कालेब्रह्म समाहितम् ।
कालोह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥
ओ३म् तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् ॥
ओ३म् कालः प्रजा असृजत कालो अग्ने प्रजापतिम् ।
स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत ॥ अथ० १६।५३।१-१०
ओ३म् कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्मतपो दिशः ।
कालेनोदेति सूर्यः कालेति विशतेपुनः
ओं कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही । द्यौर्म ही काल आहित ।
ओ३म् कालोह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा ।
कालात् ऋृश्चः सम भवन् यजुः कालादजायत ॥
ओ३म् कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम् ।
काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥
ओ३म् कालेऽयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधितिष्ठतः । इमं च लोकं
परमं चलोकं पुन्याश्च लोकान्र विघृतीश्च पुण्याः । सर्वांल्लोका-
नभिजित्य ब्रह्मणा कालः त इयते परमो नु देवः ॥

अथर्व० १६।५४।१-५ ।

यहाँ पर अमावस्या पर्व का ४ आहुति देकर पूर्ववत पूर्णाहुति करें ।
क्योंकि काली का महत्व काल के साथ है । काला पक्ष से अमा-
वस्या का सम्पर्क है । इसलिए अमावस्या में काली पूजा होता है । घन

में लिप्त होने से धनी। ज्ञान में लिप्त होने से ज्ञानी, मान में होने से मानि, गुणों में गुणि इत्यादि जिस प्रकार शब्द होता है ठीक उस प्रकार ही काल में लिप्त होने से काली कहते हैं। काल या समय का अन्त नहीं है। इसलिए काली की अनन्त माया है। काल में ही सब कुछ समाहित है। प्रकृति साम्यावस्था अदृश्य। काल भी सभी कुछ अदृश्य का वर्णन है। अन्धकार में किसी का वर्णन नहीं होता। इसलिए प्रकृति उलङ्ग है। इसे वस्त्र देकर आवृत नहीं कर सकता। प्रकाश में दृश्य होने से गोपनीय वस्तु आच्छादन से ढक रखते हैं। प्रत्येक पर्वों के अर्थ या व्याख्या करने से ग्रन्थ का कलेवर वृहत हो जाने के कारण प्रथम कुछ सामान्य बातों से प्रश्न-उत्तर दर्पण के रूप में वर्णन किया है। प्रत्येक देवी-देवताओं के मूल रहस्य प्रकृति के गुण कर्म-स्वभाव के साथ होता है। उस गुण-कर्म-स्वभाव का सम्पर्क मनुष्य के साथ होता है। मनुष्य के स्वभाव यान वाहनों के लिए सुविधा के अनुसार नाना प्रकार प्राणियों के साथ जोड़कर जीवन-यान वाहनों के साथ जीवन + यात्रा = जीवनयात्रा का वर्णन किया गया है। इसे अब जितना बढ़ाया जा सके सो अनन्त रूप से बढ़ाया जा सकता है। ❀

।४२। मनसा पर्वोत्सव यज्ञ ।

ओं य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरी। शमीभिर्यज्ञमाशत ॥

ॐ अनु स्वधामक्षरन्नापो अस्यावर्धत मध्य आ नाव्यानाम्।
सध्री चीनेन मनसा तमिन्द्र ओजिष्ठेन हन्मनाहन्नभिद्यून् ॥

ॐ अस्मा इदु प्रय इव प्रयंसि भराम्याङ्गूषं बाधे सुवृक्ति।
इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त ॥

ॐ यो अग्नीषोमा हविषा सपर्याद्देवद्रीचा मनसा यो घृतेन ।
तस्य व्रतं रक्षतं पातमंहसो विशेजनाय महि शर्म यच्छतम् ।
ऋ० १/२०/२,३३/११,६१/२,६३/८॥

ॐ सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सँशिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥

ॐ गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्ज्जं बिभ्रतऽ एमसि ।
ऊर्ज्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥

ॐ युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या ऽ अध्याभरत् ॥

ओं युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥

ॐ आ विश्वतः प्रत्यञ्चंजिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत ।
मर्य्यश्री स्पृहयद्वर्णो ऽ अग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराणः ॥
यु० २/२४,३/४१,११/१,२,२४

ॐ गृहामा बिभीत माबेपध्वमूर्ज्जं बिभ्रतऽएमसि ।
ऊर्ज्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमिं मनसा मोदमानः ॥

ॐ येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः ।
गृहानुपह्वामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥ यजु०३।४१,४२ ॥

ॐ सीमेन तन्त्रं मनसा मनीषिणऽऊर्णा सूत्रेण कवयो वयन्ति ।
अश्विना यज्ञँ सविता सरस्वतीन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन् ॥

ॐ स्तोकानामिन्दुं प्रतिशूरऽइन्द्रो वृषायमाणो वृषभस्तुराषाट् ।
घृतप्रुषा मनसा मोदमानाः स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ॥
ॐ यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥

यजु० १६/८०,२०/४६ अथ० २/३५/५

मनुष्य मनुर्भव मननात से मुनि-मनीषि-महान आत्मा इति महात्मा होते हैं। मननात इति मनुष्य मनज्ञाने या मन विचारने से मनुष्य का महत्व को व्यक्त होते हैं। अतः मानस भाव बिगड़ने से व्यक्ति परिवार तथा संसार का बिगाड़ उत्पन्न होता है। इसलिए परिवार, समाज, संगठन, क्लब और राष्ट्रीय सम्मान भाव उत्पन्न के लिए "मनसा" अर्थार मन के द्वारा निश्चयात्मक वशीभूत यज्ञ करना चाहिए। इसमें व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र में मंगल होते हैं। जब मन को वशीभूत नहीं कर पाता तब मन को विकृति ही भयंकर व्याधि होता है।

।४३। शितला देवी पर्वोत्सव यज्ञ ।

शीत कहते हैं ठण्डे को। ठण्डे या बर्फ में किसी का कोई भी शक्ति नहीं चलता। सभी को शीत रूप काल में एकीभूत करता है। इसलिए बर्फ में दूसरे कृत्रिम उपाय बनाकर प्राणी चलते-फिरते हैं परन्तु ठण्डे या शीत के साथ ताल-मेल खाकर रह नहीं सकता। इसलिए यह शीतल या शीतला देवी रूप प्रकृति का महत्व बहुत ही नाजुक है। आनन्द तो तभी प्राप्त होता है जब शीत की कृत्रिम उपाय योग, तप, साधना, संयम करके बल-बीर्य पराक्रम ज्ञान, विज्ञान आदि ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेते

हैं। इसलिए इस पर्व में यज्ञिय अनुष्ठान करके प्राकृतिक पदार्थों के रहस्य को जानने के लिए तथा नाना प्रकार के अनुकूल खान-पान के अवसर मिल जाता है। अतः प्रत्येक पर्वों में यज्ञादि करने से ये ही एक सुन्दर खान-पान का सुअवसर मिल जाता है।

मन्त्र यथा :—

ॐ यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्त्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः।
अविस्तस्मात् प्रमुञ्चति दत्तः शितिपात् स्वधा ॥
ॐ सर्वान् कामान् पूरयति अभवन् प्रभवन् भवन्।
आकूति प्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥
ॐ ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥
ॐ पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
प्रदातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम् ॥
ॐ पञ्चापूपं शिति पादमविं लोकेन संमितम्।
प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥
ॐ इरेव नोप दस्यति समुद्र इव पयोमहत्।
देवौ सवासिनाविव शितिपान्नोप दस्यति ॥
ॐ कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमाविवेश।
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत् ते ॥ अ० ३।२६।१-७ ॥

।४४। कार्त्तिकोत्सव यज्ञ ।

कार्त्तिक महिना एक सुन्दर शक्ति बल-बीर्य पराक्रम युक्त स्वस्थ शरीर के आनन्दमय जीवन यात्रा की प्रतीक है। वर्षा ऋतु को वायु-पित्त-गैसादि के दबाव से अस्वस्थ कर माना जाता है। शीत ऋतु उस प्रकार नहीं है। अतः कार्तिक में शीत ऋतु का पूर्वाभास में ही शरीर के अन्दर नवीन कामोद्वेग प्रत्येक प्राणियों में ही तीव्र साफ पड़ जाता है। यहाँ तक की कुत्ते, श्रृङ्गाल मयुर आदि प्राणी पागल हो जाता है। परन्तु कामोद्वेग में प्राणियों के अन्दर एक मात्र राष्ट्रीय पक्षी मोर है। जिसके कामोद्वेग में असली प्यार और श्रृङ्खलता की प्रतीक दिखने को मिलता है। मोर के प्यार-नाच-गान बहुत ही मनमुग्धकर होता है। अतः इस ऋतु में शरीर को वश में रखना अत्यावश्यक है। कीर्त्ति आदि ऐश्वर्यों को जो रक्षा करते हैं सो उसे भी कार्त्तिक कहते हैं। अर्थात यज्ञ करके जो आहार करता है सो कीर्ति को पाता है अन्यथा कीर्ति को खा जाता है। यदि अच्छे प्रकार सत्कार कर पाया तो सारे जीवन भर वेदानुसार करम्भ-धाना-सत्तू आदि खाने-पीने का बड़ी आनन्द के साथ तरीका बनाते हैं। इसलिए यज्ञ के रूप में पर्वोत्सव यज्ञ के आयोजन से खान-पान को जान ले। मन्त्र यथा : —

ओ३म् युवं नरा स्तुवते पज्रियाय कक्षीवते अरदतं पुरन्धिम् ।
कारोतराच्छफादश्वस्य वृष्णः शतं कुम्भाँ असिञ्चतं सुरायाः ॥
ओ३म् धानाः करम्भः सक्तवः परीवापः पयोदधि ।
सोमस्य रूपँ हविषऽ आमिक्षा बाजिनं मधु ॥
ओ३म् धानानाँ रूपं कुवलं परीवापस्य गोधूमा ।
सक्तूनाँ रूपं बदरमुपवाकाः करम्भस्य ॥

ओ३म् पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहिमा ॥
ओ३म् पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देवदीद्यत् ।
अग्ने क्रत्वा क्रतूँरनु ॥ यजु० १९।२१, २२, ३९, ४० ॥
ॐ विद्यु ज्जिह्व मरूतो दन्ता रेवतीग्रीवाः कृत्तिकास्कन्धा धर्मो वहः ।
ॐ श्येनः क्रोडो अन्तरिक्षम्पाजस्यं बृहस्पतिर्ककुद बहतीः कीकसाः ।
ॐ धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जङ्घा गन्धर्वा अप्सरसः
कुष्ठिका अदितिः शफाः ॥ अथर्व० ९।७।३,५,१० ।
ॐ कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोतिथेरश्नाति ॥
अथ० ९/६/(३) ५॥

१४५। गनेश या गणपति पर्वोत्सव यज्ञ ।

यहाँ पर गणपति पर्वोत्सव के रूप में एक ऐसे ऐश्वर्य का रूप वेद में वर्णन करते हैं जो धन-सम्पत-निधि आदि के गिनति का माहिर हो । अर्थात जो बनिक या व्यवसायी लोक धन-सम्पदादि के सर्वदा गिनति या हिसाव में दृढ़ता है, जो उसमें ही मस्त हो । उसे गिनति स्वामी या पति-गणपति कहा है । जो लोग निरन्तर बैठकर केवल धन कमाई में हिसाब गणना और पौष्ठिक स्वादिष्ट लोभ-लालच करना, विषयों में लिप्त रहेगा सो उसके पेट में चर्बी-वायु और बात में फंस कर मोटापा रोग में फंस जाता है । ये ही अन्त में हार्ट-हृदय-रक्तचाप आदि नाना रोगों में फंसकर कष्ट पाता है । इसलिए गगेश जी का पेट मोटा है । और बिल्वपत्रादि के सेवन वायु विकार का नाशक है ।

ॐ गणानां त्वा गणपतिँ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिँ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिँ हवामहे वसोमम। आहमजानि गर्भधम् आत्वमजासि गर्भधम्॥ यजु० २३।१९

ॐ नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रात-पतिभ्यश्च वो नमो नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः॥ यजु० १६।२५

ओं अग्ने मरुद्भिः शुभयद्भि ऋक्वभिः सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः। पावकेभिर्विश्वामिन्वोभिरायुभि वैश्वानर प्रदिवा केतुना सजूः॥ ऋ० ५।६०।८

ओं गणश्रिये स्वाहा। ओं गणपतये स्वाहा॥ यजु० २२।३०

ओं गणेभ्यः स्वाहा। ओं महागणेभ्यः स्वाहा॥

ओं सर्वेभ्योऽङ्गिरोभ्यो विदगणेभ्यः स्वाहा॥

ओं ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान। भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः॥

अथ० १९/२२/१९-२१

१४६। विश्वकर्मा पर्वोत्सव यज्ञ।

विश्वकर्मा अर्थ सारी दुनिया को या ब्रह्माण्ड को बनने बनाने के यन्त्र कला कौशल का निर्माण दिवस है। परमात्मा ने शक्ति-बल-ओज-तेजादि ऐश्वर्यों के द्वारा साधु-पवित्र-निर्मल-कर्मों का आयोजन करके

यह अनन्त चित्र विचित्र कला-कौशल युक्त सुन्दर संसार को बनाया है और निरन्तर ही नित्य नवीता को प्राप्त होता है। मनुष्यों को भी उसके अनुकरण करके नाना प्रकार नित्य नवीन रूप देने का शक्ति मिल रहा है जिससे इस विद्या की अफुरन्त भाव है। मन्त्र यथा :—

ॐ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरूत विश्वतस्पात्।
संबाहुभ्यंधमतिसंपतत्रैद्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥
ॐ या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषिस्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥
ॐ विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुतद्याम्।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥ साम१५८६
ॐ वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतयेमनोजुवं वाजे अद्या हुवेम।
सनो विश्वानि हवनानि जो षद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा॥
ॐ विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोतसंदृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः॥
ऋ० १०/८१/३,५,६,७, /१०/८२/२॥

ॐ सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्व धायाः।
इन्द्रस्य त्वा भागँ सोमेनातनच्मि विष्णो हव्यँ रक्ष॥ यजु-१।४
ॐ विश्वचर्षणिरूत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरूत विश्वतस्पृथः
सं वाहुभ्यां भरति सं पतत्रैद्यावापृथिवी जनयन् देव एकः॥
अथ० १३/२/२६॥

ॐ प्रसुव आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः ।
प्रसप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्रसृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा ॥
ॐ प्रतेऽरदद्वरुणो यातवे पथः सिन्धो यद्वाजां अभ्यद्रवस्त्वम् ।
भूम्या अधि प्रवता यासि सानुना यदेषामग्रं जगतामिरज्यसि ॥
ॐ दिविस्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्ममुदियर्ति भानुना ।
अभ्रादिव प्रस्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभोन रोरुवत् ॥
ॐ अभित्वा सिन्धो शिशुमिन्न मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः
राजेव युध्वा नयसि त्वमित्सिचौ यदासामग्रं प्रवतरमिनक्षसि ॥
ॐ इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्णया ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्ताया जीकीये शृणुह्य सुषोमया ॥
ॐ तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या ।
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे ॥
ॐ ऋजीत्येनी रूशती महित्वा परि ज्रयांसि भरते रजांसि ।
अदब्धा सिन्धुरपसामपस्तामाश्वा नचित्रा वपुषीव दर्शता ॥
ॐ स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती ।
ऊर्णावती युवतीः सीलमावत्युताधिवस्ते सुभगा मधुवृधम् ॥
ॐ सुखं रथं ययुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मिन्ना जौ ।
महान्ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः ॥

ऋ० १०/७५/१-६

।४८। सरस्वती पूजा पर्वोत्सव यज्ञ ।

ओं प्रणो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती । धीनामवित्र्यवतु ॥
ओं यस्त्वा देवी सरस्वति उपब्रूते धने हिते । इन्द्रं न वृत्रतूर्ये ॥
ओं त्वं देवि सरस्वति अवा वाजेषु वाजिनि । रदा पूषेव नः सनिम् ।
ओं उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसासुजुष्ठा । सरस्वती स्तोम्या भूत्
ओं प्रया महिम्ना महिनासु चेकिते द्युम्नेभिरन्या अपसामपस्तमा
रथइव बृहती विभ्वने कृतोपस्तुत्या चिकितुषा सरस्वती ॥
ओं जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः । सरस्वन्तं हवामहे ॥
ओं पीपिवांसं सरस्वतः स्तनं यो विश्वदर्शतः ।
भक्षीमहि प्रजामिषम् ॥ ऋ० ६/६१/४,५,६,१०,१३/७/९६/४,६ ॥
ओं सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिणऽ ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति ।
अश्विना यज्ञँ सविता सरस्वतीन्द्रस्य रूपं वरूणो भिषज्यन् ॥
ओ३म् पञ्चनद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्त्रोतसः ।
सरस्वती तुपञ्चधा सो देशेऽ भवत्सरित् ॥ यजु० ३४।११ ॥
ओ३म् पावकानः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धियावसु ॥ साम० १८९
ओ३म् ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती ।
ओतौ म इन्द्रश्च अग्निश्च ऋध्यास्मेदं सरस्वती ॥ अथर्व० ६।९४।३॥
ओ३म् सरस्वती देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ।

ओ३म् सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आधेह्यस्मे ॥
ओ३म् इमं या परमेष्ठिनी वागदेवीब्रह्मसंशिता ।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तुनः ॥ अर्थ० १६।६।३॥

अथ० १८/१/४१,४२/१६/६/३ ॥

१४९। शिवरात्री पर्वोत्सव यज्ञ ।

ओ३म् उप नः पितवा चर शिव शिवाभिरूतिभिः ।
मयोभुरद्विषेण्यः सखा सुशेवो अद्वयाः ॥ ऋ० १।१८७।३
ॐ अस्य यामासो बृहतो न वग्नूनिन्धाना अग्नेः सख्युः शिवस्य ।
ईड्यस्य वृष्णो बृहतः स्वासो भामासो यामन्नक्तवश्चिकित्रे ॥
ओ३म् उपत्या वन्ही गमतो विशंनो रक्षोहणा सम्भृता वीळुपाणी
समन्धास्यग्मत मत्सराणि मानो मर्धिष्टमा गतं शिवेन ॥
ओ३म् शिवो भूत्वा मह्यमग्नेऽ अथो सीद शिवस्त्वम् ।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥
ओ३म् उदुत्वा विश्वेदेवाऽ अग्ने भरन्तु चित्तिभिः ।
सनो भव शिवस्त्वँ सुप्रतीको विभावसुः ॥
ओ३म् प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम् ।
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन् माहिँसीस्तन्वा प्रजाः ॥

ऋ० १०/३/४/७/३/४॥ य० १२/१७॥ य० १२/३१॥ य० १२/३२॥

ओ३म् अयं मेहस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।

अयं मे विश्व भेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ अथर्व० ४।१३।६

ओ३म् यस्मैत्वा यज्ञवर्धन मणेप्रत्यमुञ्च शिवम् ।

तंत्वं शतदक्षिण मणे श्रेष्ठाय जिन्वतात् ॥ अथर्व० १०।६।३४

ओ३म् मानो मेधां मानो दीक्षां मानो हिंसिष्टंयत् तपः ।

शिवा नः शं सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः ॥ अथर्व० १९।४०।३

ओ३म् शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।

शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ अथर्व० ३।२८।३

।५०। विष्णु पर्वोत्सव यज्ञ ।

ओ३म् अतो देवा अवन्तुनो यतो विष्णुर्विचक्रमे ।

पृथिव्याः सप्तधामभिः ॥

ओ३म् इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।

समूढमस्य पांसुरे ॥

ओ३म् त्रीनि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।

अतो धर्माणि धारयन् ॥

ओ३म् विष्णोः कर्माणिपश्यत यतो ब्रतानि पस्पशे ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ साम १६७१

ॐ तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।

दिवीव चक्षुराततम् ॥ साम १६७२

ॐ तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।

विष्णोयत् परमं पदम् ॥ ऋ० १।२२।१६–२१ ॥

ॐ प्रपर्वतस्य वृषभस्यपृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिचऽइयानाः

ताऽआव वृत्रन्नधरा गुदक्ताऽअहिं बुध्न्यमनुरीयमाणाः ।

विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोः क्रान्तमसि ॥ यजु १०।१६

।५१। नारायण या नाराशंसी यज्ञ ।

ॐ मनोन्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन ।

पितृणां च मन्मभिः ॥ ऋ० १०।५७।३

ॐ रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी ।

सूर्याया भद्रमिद्वासो गययैति परिष्कृतम् ॥ ऋ० १०।८५।६

ॐ विश्वेदेवाश्चमसेषून्नीतोऽसुर्होमायोद्यतो रुद्रोहूयोमानो वातोऽभ्या

वृत्तो नृचक्षाः। प्रतीख्यातो भक्षो भक्ष्यमाणः पितरो नाराशंसाः॥

ॐ अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशंसे सोमपीथंयऽ आशुः ।

तेनो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयँ स्याम पतयो रयीणाम् ॥

ॐ मनोन्वा ह्वामहे नाराशंसेनस्तोमेन । पितृणां चमन्मभिः ॥

ॐ तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ॥

ओ३म् इतिहासस्य चवै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च
प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥

॥ यजु० ८/५८;१९/६१;३/५३, अथर्व १५/६/११,१२॥

।५२। ब्रह्म पूजा पर्वोत्सव यज्ञ ।

ओ३म् स सोम आमिश्लतमः सुतो भूद्यस्मिन्पक्तिः पच्यते सन्ति धानाः ।
इन्द्रं नरः स्तुवन्तो ब्रह्मकारा उक्था शंसन्तो देववाततमाः ॥
ओ३म् इत्था हिसोम इन्मदे ब्रह्माचकार वर्धनम् ।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥
ओ३म् ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमाद आशू ।
स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन्प्रजानन्विद्वाꣳ उप याहि सोमम् ॥

॥ ऋ० ६/२९/४;१/८०/१;३/३५/४ ॥

ओ३म् तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ताऽ आपः स प्रजापतिः ॥ यजु० ३२।१ ॥
ओ३म् इदं मे ब्रह्म चक्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥यजु० ३२।१६॥
ओ३म् ब्रह्म सूर्यसमंज्योतिर्द्यौः समुद्रसमꣳ सरः ।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ॥यजु० २३।४८॥
ओ३म् ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् विसीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्चयोनिमसतश्चविवः ॥

१५

ॐ प्रयो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ।

ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरूच्चैः स्वधा अभिप्रतस्थौ ॥
ॐ ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य ।
छन्दांसि पक्षौ मुखमस्यसत्यं विष्टारो जातस्तपोऽधियज्ञः ॥
अथ० ४/१/१,३;४/३४/१

।५३। रथ-यात्रा यान वाहन पर्व-यज्ञ ।

ॐ इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्र व्यचसंगिरः ।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिंपतिम् ॥ ऋ० १।११।१ ॥
ॐ रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्रयत्र कामयते सुषारथिः
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः ॥
ॐ तीव्रान् घोषान् कृण्वते वृषपाणयोऽश्वा रथेभिः सह वाजयन्तः ।
अवक्रामन्तः प्रपदैरमित्रान् क्षिणन्ति शत्रूँरनपव्ययन्तः ॥
ॐ यानसावति सरांश्चकार कृणवच्चयान् ।
त्वं तानिन्द्र वृत्रहन् प्रतीचः पुनराकृधियथामुं तृणहां जनम् ॥
ॐ तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान् मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।
मन्मानि धीभिरूत यज्ञमृन्धन् देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥
ॐ यान् च पश्यामि यान् च नतेषु मा सुमतिं कृधि तवेद
विष्णो बहुधा विर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां
माधेहि परमे व्योमन् ॥
॥अथर्व० ६/७५/६, ७, अथ० ५/८/७;५/१२/२;१७/१/७

ॐ मुहुर्गृध्यैः प्रवदत्यार्तिं मर्त्यो नित्य।
क्रव्याद् यानग्निरन्तिकात् अनुविद्वान्वितावति ॥ अ० १२।२।३८
ॐ आमूरज प्रत्यावर्तयेमाः केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीति।
समश्वपर्णाश्चरन्ति नोनरोऽस्माकमिन्द्ररथिनोजयन्तु ॥ य० २९।५७
ॐ सप्तत्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य।
शोचिष्केशं विचक्षणम् ॥ अथ० १३।२।२३

।५४। रक्षाबन्धनी पर्वोत्सव यज्ञ।

ॐ सङ्गच्छमाने युवती समन्ते स्वसारा जामी पित्रोरूपस्थे।
अभिजिघ्रन्ती भुवनस्य नाभिं द्यावारक्षतं पृथिवी नो अभ्वात् ॥
ॐ देवान्वा यच्चकृमा कच्चिदागः सखायं वा सदमिज्जास्पतिंवा।
इयं धीर्भूया अवयानमेषां द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात् ॥
ॐ ऋतं दिवे तदवोचं पृथिव्या अभिश्रावाय प्रथमं सुमेधाः।
पातामवद्या दुरितादभीके पिता माता च रक्षतामवोभिः ॥
ॐ भूरिं द्वे अचरन्ती चरन्तं पद्वन्तं गर्भमपदी दधाते।
नित्यं न सूनुं पित्रोरूपस्थे द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात् ॥
ॐ अनेहो दात्रमदितेरनर्वं हुवे स्वर्वदवधं नमस्वत्।
तद्रोदसी जनयतं जरित्रे द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात् ॥
ॐ अतप्यमाने अवसावन्ती अनुष्याम रोदसी देवपुत्रे।
उभे देवानामुभयेभिरह्नां द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात् ॥

ओं उर्वी सद्मनी बृहती ऋतेन हुवे देवानामवसा जनित्रे।
दधाते ये अमृतं सुप्रतीके द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात् ॥
ओं उर्वी पृथिवी बहुले दूरे अन्ते उपब्रुवे नमसा यज्ञे अस्मिन्।
दधाते ये सुभगे सुप्रतूर्ती द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात् ॥
ओं वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूतँ रक्षः परापूता अरातयोऽपहतँ रक्षो। वायुर्वो विविनक्तु देवोवः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वा-च्छिद्रेणपाणिना।

ऋ० १।१८५।२-१० ॥ यजु० १।१६ ॥

इन सभी मंत्रों के आहुति देकर प्रथम मंत्र पाठ करके भाई को बहन रक्षा बन्धनी का कार्य समापन करें। पश्चात् पूर्णाहुति का कार्य करें।

।५५। श्रावणी पर्वोत्सव यज्ञ।

ओ३म् श्रुतं मे मित्रावरूणा हवेमोतश्रुतं सदने विश्वतःसीम्।
श्रोतुनः श्रोतुरातिः सुश्रोतुः सुक्षेत्रासिन्धुरद्भिः ॥ ऋ० १।१२२।६
ओ३म् वृष्टिं दिवः परिस्रव द्युम्नं पृथिव्या अधि।
सहो नः सोमपृत्सुधाः ॥ साम ११८६ ॥
ओ३म् वृष्टिं दिवः शतधारः पवस्वसहस्रसा वाजयुर्देववीतौ।
ससिन्धुभिः कलशे वावशानः समुस्त्रियाभिः प्रतिरन्नायुः ॥
ओं तुभ्यायमद्रिभिः सुतोगोभिः श्रोतो मदायकम्।
प्रसोम इन्द्र हूयते ॥ ऋ० ९।६६।१४ ॥ ८।८२।५ ॥

ओ३म् वृष्टिं नो अर्ष दिव्यां जिगत्नुमिळावतीं शंगयीं जीरदानुम् ।
स्तुकेव वीता धन्वा विचिन्वन् बन्धूरिमां अवरां इन्दोवायून् ॥
ओ३म् वृष्टिद्यावा रीत्यापेषस्पती दानुमत्याः । बृहन्तंगर्तमाशाते ॥
ओ३म् प्रसीमादित्यो असृजद्विधर्तां ऋतं सिन्धवो वरूणस्य यन्ति ।
न श्राम्यन्ति न विमुचन्त्येते वयोनपप्तू रघुया परिज्मन् ॥

ऋ० ९।९७।१७;५।६८।५;२।२८।४॥

।५६। दिपावली पर्वोत्सव यज्ञ ।

ओ३म् यत् त्वाकुद्धाः प्रचक्रुर्मन्युना पुरुषेमृते ।
सुकल्पमग्ने तत् त्वथापुनस्त्वो द्दीपयामसि ॥
ओ३म् आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवाणि दिव्याणि दीपयोऽन्तरिक्षा ।
तपावृषन् विश्वतः शोचिषातान् ब्रह्मद्विषे शोचयक्षामपश्च ॥

ऋ० १२/२/५ ॥ २०/३६/८

ओ३म् नमऽआंशवेचाजिराय च नमः शीध्यायं च शीभ्याय च नमऽ
ऊर्म्याय चावस्वन्याय च नमो नादेयाय च द्वीप्याय च ॥
ओ३म् समास्त्वाग्नऽ ऋतवो वर्द्धयन्तु संवत्सराऽ ऋषयोयानिसत्या ।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वाऽ आभाहि प्रदिशश्चतस्त्रः ॥
ओ३म् तेऽअस्य योषणे दिव्ये न योनाऽउषासानक्ता ।
इमं यज्ञमवतामध्वरं नः ॥ यजु० १६।३१ ॥ २७।१, १७ ॥

ओ३म् युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकऽएतुपथ्येवसूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽ आते धामानि दिव्यानितस्थुः ॥
ओ३म् कृष्णा भौमा धूम्राऽ अन्तरिक्षावृहन्तो दिव्याः शबला
वैद्युताः सिध्मास्तारकाः ॥ यजु २४।१० ॥

ॐ अयमग्नि वीरतमो वयोधाः सहस्रियो द्योततामप्रयुच्छन् ।
विभ्राजमानः सरिरस्य मध्यऽ उपप्रयाहि दिव्यानि धाम ॥
यजु० १५।५२ ॥

।५७। होली या नवान्न-पर्वोत्सव यज्ञ ।

ॐ क्षेत्रस्यपतिनां वयं हितेनेव जयामसि ।
गामश्वं पोषयित्न्वा सनो मृष्ठातीदृशे ॥

ॐ क्षेत्रस्यपते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व ।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृडयन्तु ॥
ओ३म् मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम् ।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ॥
ओ३म् शुनं वाहाः शुनंनरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् ।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥
ॐ शुनासीराविमांवाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः ।
तेनेमांमुप सिञ्चितम् ॥
ओ३म् अर्वाची सुभगे भव सीतेवन्दामहेत्वा ।
यथा नः सुभगासमि यथा नः सुफलासमि ॥

ॐ इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषानु यच्छतु ।
सानः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥
ॐ शुनं नः फाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तुवाहैः ।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम् ॥
ॐ पञ्चौदनः पञ्चधा विक्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि ।
ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधिविश्रयस्व ॥
ॐ अजारोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोऽति दुर्गाण्येषः ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति ॥
ॐ अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे दादिवांसं दधाति ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुधास्येका ॥
ऋ० ८।५७।१-८ ॥ अथर्व० ६।५।८,९, १० ॥

।५८। ग्रहशान्ति पर्वोत्सव यज्ञ ।

ॐ सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश ॥
ॐ सनो महाँऽऽनिमानो धूमकेतुपुरूश्चन्द्रः । धियेवाजाय हिन्वतु ॥
ॐ स रेवां इव विश्पतिर्दैव्यः केतुः शृणोतुनः ।
उक्थैरग्निर्बृहद्भानुः ॥ ऋ० १।२७।११,१२ ॥
ॐ विश्वस्यकेतुर्भुवनस्य गर्भ आरोदसी अपृणाज्जायमानः ।
वीळुं चिदद्रिमभिनत्परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च [illegible]नाः ॥

ओं अहः केतुना जुषतां सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा ।
ओं रात्रिः केतुना जुषतां सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा ॥
ओं यावती द्यावापृथिवी यावच्चसप्त सिन्धवो वितस्तिरे ।
तावन्तमिन्द्र ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम् ॥
ओं दिग्भ्यः स्वाहा ॥६॥ ओं चन्द्राय स्वाहा ॥११॥ ओं नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥१॥ ओं अद्भ्यः स्वाहा ॥१२॥ ओं वरुणाय स्वाहा ॥१३॥ ओं नाभ्यै स्वाहा ॥१४॥ ओं पूताय स्वाहा ॥

अजु० ३८।२६ ॥ ३६।२ ॥

ओं शंनो मित्रः शं वरूणः शं विवस्वाञ्छमन्तकः ।
उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शंनो दिविचरा ग्रहाः ॥
ओं नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तुनः शंनोऽभिचाराः शमुसन्तुकृत्याः ।
शंनो निखाता वल्गाः शमुल्का देशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु ॥
ओं शंनो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा ।
शंनो मृत्युर्धूमकेतुः शं रूद्रास्तिग्मतेजसः ॥

॥ अथ० १६/६/७, ६, १० ॥

॥५९॥ भूत-प्रेत-पिशाचादि दुरिकण यज्ञ॥

ओं भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानामुत यो वशी ।
[illegible] सर्वा संगत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥

ओ३म् भवासर्वौ मृडतं माभियातं भूतपती पशुपती नमोवाम ।
प्रतिहितामायतां माविस्राष्टं मानो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः ॥
ओ३म् पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मेदाः स्वाहा ।
ओ३म् आमेसुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशनेददम्भ ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वियातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥
ओ३म् एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः ।
तास्त्वं जुषस्व प्रतिचैना गृहाण जातवेदः ॥
ओ३म् दर्शय मा यातुधानान् दर्शय यातुधान्यः ।
पिशाचान्त्सर्वान् दर्शयेति त्वारभ ओषधे ॥
ओ३म् कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चक्षुरक्ष्याः ।
वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥
ओ३म् उदग्रभं परिपाणात् यातुधानं किमीदिनम् ।
तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥
ओ३म् यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यच्चातिसर्पति ।
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचंप्रदर्शय ॥

अथ० ११/६/२१, ११/२/१; २/१८/४; ५/२६/६, १४; ४/२०/६-६ ॥

॥६०॥ गोपाष्टमी पर्वोत्सव यज्ञ ॥

ओ३म् आगावो अगमन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे ।
प्रजावतीःपुरूरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः ॥

ॐ इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षत्युपेद्ददाति न स्वंमुषायति ।
भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये निदधाति देवयुम ॥
ॐ न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति ।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥
ॐ न ता अर्वा रेणुककाटोऽश्नुते न संस्कृतत्रमुपयन्ति ता अभि ।
उरूगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य विचरन्ति यज्वनः ॥
ॐ गावो भगो गाव इन्द्रो म अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥
ॐ यूयं गावो मेदयथा कृषं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वोवय उच्यते सभासु ॥
ॐ प्रजावतीः सुयवसं रूशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणेपिवन्तीः ।
मावःस्तेन ईशत माघशंसः परिवोहेति रूद्रस्य वृज्याः ॥
ॐ उपेदमुपपर्चनमासु गोषुपपृच्यताम् ।
उपऋषभस्यरेतस्युपेन्द्रतववीर्ये ॥
ॐ इहेदसाथ न परो गमाथेमं गावः प्रजया वर्धयाथ ।
शुभं यतीरूस्त्रियाः सोमवर्चसो विश्वे देवाः क्रन्निह वो मनांसि ॥
ॐ गावः प्रजयासं विशाथायं देवानां न मिनाति भागम् ।
अस्मै वः पूषा मरूतश्च सर्वे अस्मै वो धाता सविता सुवाति ॥
ॐ एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपंम् ॥

ऋ० ६/२८/१-८, अथ० ४/२१/१-७, १४/१/३२, ३३ ॥ ६/७/२५ ॥

ॐ उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद ॥
ॐ भद्रासि रात्रि चमसो न विष्टो विश्वङ् गोरूपं युवतिर्बिभर्षि ।
चक्षुष्मती मे उशती वपूंषिप्रतित्वं दिव्या न क्षामसुकथाः ॥
अथ० ६/७/२६, १६/४६/८ ॥

।६१। जन्माष्टमी पर्वोत्सव यज्ञ ।

ॐ स वृत्रहेन्द्रः कृष्णयोनीः पुरन्तरो दार्मीरैरयद्वि ।
अजनयन्मनवे क्षामपश्च सत्रा संशं यजमानस्य तूतोत ॥
ॐ प्रमन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा निरहन्नजिश्वना ।
अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं मरूत्वन्तं सख्याय हवामहै ॥
ॐ सयो व्यस्थादभि दक्षदुर्वी पशुर्नैति स्वयुरगोपाः ।
अग्निः शोचिष्माँ अतसान्युषणन्कृष्णव्यथिरस्वदयन्नभूम ॥
ॐ कृष्णेनरजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवोयाति भुवनानि पश्यन् ॥
ॐ अभीवृतं कृशनैविश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो वृहन्तम् ।
आस्थाद्रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधाना ॥
॥ ऋ० २/२०/७; १/१०१/१, २/४/७; १/३५/३,४, ॥

ॐ नक्तं जातस्योषधे रामे-कृष्णे असिक्नि च ।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥
ॐ कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो राज्यावत्सोऽजायत ।
सह द्यामधि रोहति रूहो रूरोह रोहितः ॥

ॐ कृष्णा भौमा धूम्रऽआन्तरिक्षाबृहन्तो दिव्याः शबला वैद्युताः सिध्मास्तारकाः ॥ ॐ उक्ताः सञ्चराऽएताऽऐन्द्राग्नाः कृष्णा-वारूणाः पृश्नयो मारूताः कायास्तूपरा ॥ ॐ कृष्णाबभ्रुनिकाशाः पितृणामग्निष्वात्तानां कृष्णाःपृषन्तस्त्रैयम्बकाः ॥

अथ० १/२३/१; १३/३/२६ ॥ यजु० २४/१०,१५,१८ ॥

।६२। रामनवमी पर्वोत्सव यज्ञ ।

ॐ भद्रो भद्रया सचमान आगात्स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात् ।
सुप्रकेतैद्युभिरग्निर्वितिष्ठतुत्रशद्भिर्वर्णैं अभि राममस्थात ॥
ॐ प्रतद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्रराम वोचमसुरे मघवत्सु ।
ये युक्त्वाय पञ्च शतास्मयु पथा विश्राव्येषाम् ॥
ॐ इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्द्धनीतिः प्रमायिनाममिनाद्वर्पणीतिः ।
अहन् व्यंसमुशधग्वनेष्वाविर्धेनाऽ अकृणोत् राम्याणाम् ॥

॥ ऋ० १०/३/३, ऋ० १०/६३/१४, यजु० ३३/२६ ॥

ॐ अस्रतिका रामायणी अपचित् प्रपतिष्यति ।
ग्लोरितः प्रपतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥
ॐ नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असि क्नि च ।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥
ॐ इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद् वर्पणीतिः ।
अहन् व्यंऽसमुशधग् वनेष्वाविर्धेना अकृणोद् राम्याणाम् ।

अथ० ६/८३/३ ॥ अथ० १/२३/१, अथ० २०/११/३ ॥

।६३। पुत्र लाभ पर्वोत्सव यज्ञ।

ओ३म् यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि।
प्रजां धनं च गृह्वानः परिहस्तो अभूदयत्॥
ओ३म् परिहस्त विधारय योनिं गर्भाय धातवे।
मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे॥
ओ३म् यं परिहस्तमविभरदितिः पुत्र काम्या।
त्वष्टा तमस्या आबध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति॥अ० ६।८१।१-३॥
ओ३म् पर्वताद् दिवो योनेरङ्गादङ्गात् समाभृतम्।
शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत्॥
ओ३म् यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे।
ओ३म् गर्भं धेहि सिनीवाली गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा॥
ओ३म् गर्भंते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः।
गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते॥
ओ३म् विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आ सिञ्चतु प्रजापति र्धाता गर्भं दधातु ते॥
ओ३म् यद् वेद राजा वरुणो यद् वा देवी सरस्वती।
यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद् गर्भकरणं पिब।

ॐ गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः ॥
ॐ अधिस्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम् ।
वृषासि वृष्ण्यावन् प्रजायै त्वा नयामसि ॥
ॐ विजिहीस्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम् ।
अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम् ॥
ॐ धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥
ॐ त्वष्टः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्यागवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥
ॐ सवितः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥
ॐ प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमें मासि सूतवे ॥ अथ० ५।२५।१-१३ ॥

।६४। राष्ट्र विजय यज्ञ ।

ॐ यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषञ्छपाति नः ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ अथ० १।१६।४
ॐ यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसौ अवीरहा ॥ अ० १।१६।४॥

ओ३म् अग्निर्नो दूतं प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥
ओ३म् अयमग्निरमूमुहद् यानि चित्तानि वो हृदि ।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥
ओ३म् इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो विनाशय ॥
ओ३म् व्याऽकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत ।
अथो यद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥
ओ३म् अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥
ओ३म् असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना ।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥
ओ३म् धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्वतं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्वयं वयं धूर्वामः ।
देवानामसि वह्नितमँ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् ॥

अथ० ३/२/१-७ य० १/८

ओ३म् अग्निर्नः शत्रून प्रत्येतु विद्वान प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥
ओ३म् यूयमुग्रा मरुत ईदृशेस्थाभिप्रेत मृणत सहध्वम् ।
अमीमृणन् वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥

ॐ अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि ।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ।।
ॐ प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्रते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् ।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक् सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ।
ओ३म् इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या विषूचो वि नाशय ।।
ओम् इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्ति ओजसा ।
चक्षूंषी अग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ।। अथर्व० ३/१/१-६ ।।

।६५। वर्षा के लिए यज्ञ ।

ॐ समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ।।
ॐ समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम ।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जामन्तामोषधयो विश्वरूपाः ।।
ॐ समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगासः पृथगुद् विजन्ताम् ।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तां वीरुधो विश्वरुपाः ।।
ओ३म् गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक् ।
सर्गा वर्षस्य वर्षं तो वर्षन्तु पृथिवीमनु ।।
ॐ उदीरयत मरुतः समुद्र तस्त्वेषो अर्को नभ उत् पातयाथ ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ।।

ॐ अभि क्रन्दस्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पयसासमङ्गधि ।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम् ॥
ॐ सं वोऽवन्तु सुदानवउत्सा अजगरा उत् ।
मरूद्भिः प्रच्युता मेघाः वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥
ॐ आशामाशां विद्योततां वाता वान्तु दिशोदिशः ।
मरूद्भिः प्रच्युतामेघाः संयन्तु पृथिवीमनु ॥
ॐ आपो विद्यु दभ्रं वर्षं सं वोऽवक्षु सुदानव उत्सा अजगरा ऊत ।
मरूद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु ॥
ॐ अपामग्निस्तनूभिः संविदाने य ओषधीनामधिपाबभूव ।
स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि ॥
ॐ प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिमर्दयाति ।
प्रप्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङेतेनस्तनयित्नुनेहि ॥
ॐ अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणावनी
चीरपः सृज । वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु ॥

ॐ संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥
ॐ उपप्रवद मण्डूकि वर्षमावद तादुरि ।
मध्ये हृदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः ॥

ॐ खण्वखा३इ खैमखा३इ मध्ये तदुरि ।
वर्षं वनुध्वं पितरो मरूतां मन इच्छत ॥
ॐ महान्तं कोशमुदचामि षिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः ।
तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनीरोषधयो भवन्तु ॥
अथर्व० ४/१५/१-१६ ॥

ॐ वाताय स्वाहा । ॐ धूमाय स्वाहा । ॐ अभ्राय स्वाहा । ॐ मेघाय स्वाहा । ॐ विद्योतमानाय स्वाहा । ॐ स्तनयते स्वाहा । ॐ उस्फूर्जते स्वाहा । ॐ वर्षते स्वाहा । ॐ अववर्षते स्वाहा । ॐ उग्रं वर्षते स्वाहा । ॐ शीघ्रं वर्षते स्वाहा । उत्गृह्णते स्वाहा । उत्गृहीताय स्वाहा । ॐ प्रुष्णते स्वाहा । ॐ शीकायते स्वाहा । ॐ प्रुष्वाभ्यः स्वाहा । ॐ ह्रादुनीभ्यः स्वाहा । ॐ नीहाराय स्वाहा ॥ यजु० २२/२६

।६६। धन प्राप्ति यज्ञ ।

ॐ इन्द्रमहं वणिजं नोदयामि स न ऐतु पुर एता नो अस्तु ।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥
ॐ ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥
ॐ इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय ।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥

ओ३म् इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम् ।
शुनं नोऽस्तु प्रपणो विक्रयश्च. प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु ।
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥
ॐ येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध ॥
ॐ येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा घनमिच्छमानः ।
तस्मिन् म इन्द्रो रूचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमोअग्निः ॥
ॐ उपत्वा नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः ।
सनः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ॥
ॐ विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो माते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥
ॐ प्रजापतेन त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिताबभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयोरयीणाम् ॥

॥ अथ० ३/१५/१-८, ऋ० १०/१२१/१० ॥

।६७। रोग आरोग्ये दीर्घायुष्काम यज्ञः ।

ॐ मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुतराजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्योतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम् ॥
ॐ यदिक्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥

ओ३म् सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥
ओ३म् शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥
ओ३म् प्रविशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्यान्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥
ओ३म् इहैवस्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥
ओ३म् जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥
ओ३म् अभित्वा जरिमाहितं गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया ।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥अथ० ३।११।१-८॥

।६८। मातृ-पितृ श्राद्ध तर्पण यज्ञ ।

ओ३म् यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्रचतिष्ठत ।
इदं नम ऋृषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥
ओ३म् यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेममेनं परिदत्तात् पितृभ्यः ।
यदोगच्छात्यसुनीतिमेतामथ देवानां वशनीर्भवाति ॥

ॐ अवसृजपुनरग्ने पितृभ्योयस्त आहुतश्चरति स्वधावान् ।
आयुर्वसान उपयातु शेषः सं गच्छतां तन्वाऽसुवर्चाः ॥
ॐ अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।
अधापितॄन्त्सुविदत्राँ अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥
ॐ उरूणसावसुतृपावुदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनां अनु ।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥
ॐ मा त्वा वृक्षः सं वाधिष्ट मा देवो पृथिवी मही ।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ।
ॐ यत्ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वाते परेतः ।
तत् ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरावेशयन्तु ॥
ॐ अपेमं जीवा अरूधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः ।
मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार ॥
ॐ ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात्प्रधमाति यज्ञात् ॥
ॐ सं विशन्त्विह पितरः स्वानः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः ।
तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग जीवन्तः शरदः पुरूचीः ॥
ॐ याते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर ओदनम् ।
तेना जनस्य असो भर्त्ता योऽत्रासदजीवनः ॥
ॐ येनः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वऽन्तरिक्षम् ।
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥

ओ३म् इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम् ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥
अथ० १८/२/२,५,१०,११,१३,२५,२६,२७,२८,२९,३०,४९,५०॥

।६९। प्रायश्चित्य यज्ञ ।

ओ३म् स इत् तत् स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमंगलम् ।
प्रायश्चित्तिं यो अध्येति येन जाया न रिष्यति ॥
ओ३म् अर्यमनं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः ॥
ओ३म् प्रत्वा मुञ्चामि वरूणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवाः ।
ऋृतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनंते अस्तु सहसंभलायै ॥
ओ३म् भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्रवहतां रथेन ।
गृहान गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥
ओ३म् इहप्रियं प्रजायै ते सभ्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥
अथ० १४/१/३०,१७,१९,२०,२१ ॥

ओ३म् तपसे स्वाहा । ओ३म् तप्यते स्वाहा । ओ३म् तप्यमानाय स्वाहा ।
ओ३म् तप्ताय स्वाहा । ओ३म् घर्माय स्वाहा । ओ३म् निष्कृत्यै स्वाहा ।
प्रायश्चित्यै स्वाहा । ओ३म् भेषजाय स्वाहा ॥ यजु० ३९।१२

।७०। चान्द्रायण यज्ञ।

ॐ नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरूषसामेष्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥
ॐ अश्लीला तनूर्भवति रूशती पापयामुया।
पतिर्यद् वध्वो ३ वाससः स्वमङ्गमयूर्णुते ॥
ॐ युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोध्येषु।
ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारू संभलो वदतु वाचमेताम् ॥
ॐ शंनो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्चराहुणा।
शंनो मृत्यु धूमकेतुः शं रूद्रास्तिग्मतेजसः ॥
ॐ यानिकानि चिच्छान्तानि लोके सप्तऋषपो विदुः।
सर्वाणि शं भवन्तु में शंमे अस्त्वभयं मे अस्तु ॥
ॐ शंनो मित्रः शं वरूणः शं विवस्वाञ्छमन्तकः।
उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शंनो दिविचराग्रहाः ॥
ॐ येवध्वऽश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनां अनु।
पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः ॥

अथ० १४/१/२४,२७,३० ॥ १६/६/१०,१३,७ ॥ १४,२/१० ॥

अब इसके पश्चात् ६७ दर्पण के दीर्घायु प्राप्ति यज्ञ के सभी मन्त्रों के आहुति देकर १७ वाँ दर्पण के गायत्री और प्रायश्चित्याहुति देकर पूर्ववत् पूर्णाहुति करें।

०००

।७१। स्वस्ति यज्ञ ।

यहाँ पर १७ वाँ दर्पण के सभी कार्य विशेष यज्ञ सह करके गायत्री से पूर्व स्वस्ति वाचन के मन्त्रों से आहुति करके गायत्री प्रायश्चित तथा पूर्णाहुति आदि पूर्ववत् करें।

।७२। शान्ति यज्ञ ।

यहाँ पर भी १७ वाँ दर्पण के सभी कार्य करके विशेष यज्ञाहुति देकर गायत्री से पूर्व शान्ति प्रकरण के सभी मन्त्रों से आहुति देवें। पश्चात गायत्री तथा प्रायश्चित्याहुति आदि देकर पूर्ववत् १७ वाँ दर्पण के अनुसार पूर्णाहुति करें।

।७३। गृह निर्माण यज्ञ ।

यहाँ पर १७ वाँ दर्पण के अनुसार सभी कार्य करके गायत्री मंत्र से पूर्व निम्न मन्त्र से हाथ में गृह निर्माण का ईंट,काष्ट मृत्तिका तथा सभी साधन लेवें और निम्न मंत्र को बोलकर ईंट को अपने हाथों से यजमान गायत्री करें या स्थापना करें। सीमेन्ट, बालू लगाकर अपने सन्तुष्ठ चित्त से सभी लोग चले आवें। साथ ही राज मिस्त्री कार्य आरम्भ करें।

ईंट का स्थापना मंत्र :—

यजमानः—ओ३म् शं वातः शᳫं हिते घृणिः शंते भवन्त्विष्टकाः।

शंते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा त्वाभि शूशुचन्॥

यजमान उपर के मन्त्र बोलकर कार्य समापनान्ते हाथों में जल लेवें और बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ निम्न मंत्र बोलकर ईंष्ट के उपर जल के छिड़का देकर सभी तरफ जल छिड़कावें मन्त्र यथा :—

जलसिञ्चन :—

ओ३म् कल्पन्तां ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः।
अन्तरिक्षं शिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिशः सर्वाः॥

अब यजमान स्त्री के हाथ में या अंशदार भाग वाले जल-पात्र लेकर तथा पुरुष के हाथों में दीपक लेकर ईश्वर प्रार्थना मन्त्र श्रद्धा-भक्ति-प्रेम से सभी बोलें।

प्रार्थना—ओ३म् इमाआपः प्रभरामियक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः।
गृहानुप प्रसीदामि अमृतेन सहाग्निना॥

अब यजमान यज्ञ स्थान में जाकर निम्न मंत्र से उभय ही आहुति देवें।

ओ३म् मानः पाशं प्रतिमुचो गुरूर्भारो लघुर्भव।
वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि॥

॥यजु० ३५/८; यजु० ३५/६; अथर्व० ६/३/२३; अथ० ६/३/२४॥

अब यथा क्रम पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर-मध्य और दो आहुति चारो तरफ घुमाकर के अन्दर घृताहुति देवें।

सप्तघृताहुति :—

ओ३म् प्राच्या दिशः शालायाः नमो महिम्ने देवेभ्यः स्वाहा।
ओ३म् दक्षिणाय दिशः शालाया नमो महिम्ने देवेभ्यः स्वाहा॥
ओ३म् प्रतीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने देवेभ्यः स्वाहा।
ओ३म् उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने देनेभ्यः स्वाहा॥
ओ३म् ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने देवेभ्यः स्वाहा।
ओ३म् ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने देवेभ्यः स्वाहा॥

ओ३म् दिशो दिशः शालाया नमो महिम्ने देवेभ्यः स्वाहा।

अव निम्न दो मंत्रों से हलुया, मिष्ठान्नफलादि के आहुति देवें।

ओ३म् अयं अग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः।
अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व॥
ओ३म् गृहामा बिभीत मावेपध्वमूर्ज्जं बिभ्रतऽएमसि।
ऊर्ज्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः॥

अ० ६/३/२५-३१ ॥ य० ३/३६,४१ ॥

अब १७वाँ दर्पण के अनुसार गायत्री प्रायश्चित्त तथा पूर्णाहुति करके पूर्ववत् समापन करें।

। ७४ । शुद्धि संस्कार दर्पणः ।

जब मनुष्य संग दोष से पाप निन्दनीय, अधर्म कर्मादि करके अपने को सन्तप्त होकर श्रेष्ठ पथ पर लगाना या आना चाहता है तब वैदिक सिद्धान्तों से शुद्धि संस्कार यज्ञ करके उन्हें अपनाया जावें। उसमें दूसरे कोई भी सम्प्रदाय हो सो अपनाया जावें और अपने सिद्धान्तों पर चलना होगा।

१७ वाँ दर्पण के सभी कार्य करके गायत्री से पूर्व निम्न मन्त्रों से आहुति देवें।

ओ३म् भद्रं भद्रं न आ भरेषमूर्जं शतक्रतो। यदिन्द्र मृडयासिनः॥

ओ३म् एतोन्विन्द्रिं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना।
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्ध आशीर्वान्ममत्तु॥

ॐ इन्द्र शुद्धो न आगहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः ।
शुद्धो रयिं निधारय शुद्धो ममधि सोम्यः ॥
ॐ इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे ।
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि ॥

ॐ अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् ।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥
॥ ऋ० ८/९३/२८ ॥ ऋ० ८/९५/७, ८, ९ ॥ अथर्व ४/३४/२ ॥

ॐ निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः स्वाहा ॥ यजु० ६।१५ ॥

ॐ तनूनपाच्छुचिव्रतस्तनूपाश्च सरस्वती ।
उष्णिहा छन्दऽइन्द्रियं दित्यवाड् गौर्वयो दधु ॥ यजु० २१।१३॥

इसके पश्चात् पुरोहित-गुरु-आचार्य आदि लोग एक शुद्ध पात्र पूर्ण जल के अन्दर बिल्वपत्र या पुष्पादि रख कर, शुद्धि संस्कारीजनों को पत्र या पुष्प से सारे शरीर के उपर निम्न मन्त्र बोलते हुए जल छिटकावें । इसके पश्चात् गायत्री आदि से पूर्ववत् पूर्णाहुति करें ।

यजमान की शुद्धि क्रिया :—

ॐ देवीरापः शुद्धा वोड्ढ्वꣳ सुपरिविष्टा देवेषु ।
सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारों भूयास्म ॥ यजु ६।१३ ॥

ॐ गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽ एमसि ।
ऊर्ज्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसामोदमानः ॥

अब १७ वाँ दर्पण के अनुसार गायत्री प्रायश्चित तथा पूर्णाहुति करके पूर्ववत् समापन करे।

।७५। गृह प्रवेश पर्वोत्सव यज्ञ ।

गृह में प्रवेश करने वाले गृहपति प्रथम निम्न मंत्र बोलकर प्रवेश करें। हाथों में होम के साधन रहे। दूसरे लोग नाना द्रव्य लेकर प्रवेश करें। उपयुक्त मुख्य गृहे प्रवेश करके १७वाँ दर्पण के अनुसार यज्ञ करें। सामान्य तथा विशेष यज्ञ करके गायत्री से पूर्व निम्न मन्त्रों से आहुति देवें।

यजमानः—

ॐ गृहामा बिभीत मा वेपध्वम् ऊर्ज्जं बिभ्रतऽ एमसि।
ऊर्ज्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहान् एमि मनसा मोदमानः॥
ॐ अयं अग्निः गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः।
अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सहऽ आयच्छस्व॥
ॐ उपहूताऽइह गावऽ उपहूता अजावयः।
अथोऽ अन्नस्य कीलालऽ उपहूतो गृहेषुनः।
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवं शग्मँ्ँ शंयोः शंयोः॥
ॐ अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा। हव्यवाड् जुह्वास्यः।
ॐ सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तान्वं पुषेम॥
ॐ प्रातः प्रातः गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम।

यजु० ३/३९,४३ ॥ ऋ० १/१२/६ ॥ अथ० १९/५५/३,४

अब निम्न मन्त्र से सभी गृह वासी आहुति देकर घर के सर्व प्रयोग स्थानों में घुमकर श्रद्धा भक्ति से उत्तम विद्या-बुद्धि-सुमन-बल-बीर्ज पराक्रम के भावना से अभय होकर प्रवेश करके अपना स्वाभिमान का आधिपत्य विस्तार करे। इस भावना से पुनः यज्ञ स्थान पर आकर निम्न मन्त्र से पुनः आहुति देवे।

।७६। अक्षय या अख्यय तृतीय पर्वोत्सव यज्ञ।

ॐ तामस्य रीतिं परशोरिव प्रत्यनीकं अख्यं भुजे अस्य वर्पसः।
सचा यदि पितुमन्तमिव क्षयं रत्नं दधाति भरहूतये विशे॥
ॐ भूरीदिन्द्रस्य वीर्यं व्यख्यमभ्यायति। राधस्ते दस्यवे वृक॥
ॐ विह्नख्यं मनसा वस्य इच्छान्निन्द्रग्नी ज्ञास उत वा स जातान।
नान्या युवत्प्रमतिरस्ति मह्यं सवांधियं वाजयन्तीमतक्षम्॥
ॐ ऋतव स्थऽ ऋतावृधऽऋतुष्ठास्थऽ ऋतावृधः।
घृतश्च्युतो मधुश्च्युतो विराजोनाम कामदुधाऽ अक्षीयमाणाः॥
ॐ देवं बर्हिः सरस्वती सुदेवमिन्द्रेऽ अश्विना।
तेजो न चक्षुरक्ष्योर्बर्हिषा दधुरिन्द्रियं वसुवनेवसुधेयस्य व्यन्तु यज।
ॐ वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजेऽ अद्या हुवेम।
सनो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशन्भूरवसे साधुकर्मा॥
ॐ यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा
यो देवानां नामधाऽ एकऽ एव तँ सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥
ऋ० ५।४८।४॥ ८।२६।१॥ १।१०६।२॥ य० १८।३।२१।४८॥

ओ३म् दूराच्चकमानाय प्रतिपाणायाक्षये ।

आस्मा अशृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन्त्स्वः ।। अथर्व-१६।५२।३ ।।

।७७। पीशाच, दोषयुक्त वायु नाशनम् यज्ञ ।

ओ३म् द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः ।

दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद् रपः ।।

ओ३म् आवात वाहि भेषजं विवात वाहि यद् रपः ।

त्वं हि विश्व भेषज देवानां दूत ईयसे ।।

ओ३म् त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः ।

त्रायन्तां विश्व भूतानि यथायमरपा असत् ।।

ओ३म् आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्ट तातिभिः ।

दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ।।

ओ३म् अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः ।

अयं मे विश्व भेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ।। अथर्व० ४।१३।२-६

अब ५६ दर्पण का भूत-प्रेतादि विषयक् यज्ञ के आहुति देकर १७ वाँ दर्पण के गायत्री आदि के द्वारा पूर्ववत् पूर्णाहुति करें ।

। ७८ । व्रत पालन यज्ञ ।

जब कभी आप लोग घरों में शरीर की शुद्धि तथा आत्म ज्ञान धर्म पालनादि कार्य प्रारम्भ करते हैं तब याग यज्ञादि कर्म करते हुए व्रत करे । तभी पूर्ण फल प्राप्त होते हैं । १७ वाँ दर्पण के अनुसार सभी कार्य करके गायत्री से पूर्व निम्न मन्त्रों से आहुति देवें । मन्त्र यथा :—

ओ३म् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मेराध्यताम् ।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ यजु० १।५ ॥

ओ३म् पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन ।
स्तोतारस्तऽ इह स्मसि ॥ यजु० ३४।४१ ॥

ओ३म् अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधीदमहं यऽएवाऽस्मि सोऽस्मि ॥ यजु० २।२८ ॥

ओ३म् व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः । दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसँ सुतीर्था नोऽअसद्वशे ये देवा मनोजातामनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तुतेनः पान्तु तेभ्यः ॥

ओ३म् त्वमग्ने व्रतपाऽअसि देवऽआ मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेष्वीड्यः रास्वेयत्सोमा भूयोभर देवो नः सविता वसोर्दाता वसदात् ॥

ओ३म् पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽ आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽ आगन् वैश्वानरोऽअदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥

ओ३म् वरिमाणम्पृथिव्याः । आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरूणस्य व्रतानि ॥ यजु० ४।११, १५, १६, ३० ॥

ओ३म् व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षामाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धयासत्यमाप्यते ॥ यजु० १९।३० ॥

।७९। शत्रु विजय यज्ञ ।

ॐ इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङ्ङाकूत्या चर ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो विनाशय ॥
ॐ व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत ।
अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परिनिर्जहि ॥
ॐ अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्यशत्रून् ॥
ॐ एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य ।
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै ॥
ॐ अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा ।
अस्मिन्निन्द्रमहि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहिशत्रुमस्य ॥
ॐ यस्येदं प्रदिशि यद्व विरोचते यज्जातं जनितव्यं च केवलम् ।
स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि सनो मुञ्चत्वंहसः ॥
ॐ यन्मेदमभिशोचति येन येन वाकृत पौरूषेयान्न दैवात् ।
स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमंहसः ॥
अथर्व० ३/२/३, ४, ५॥ ४/२२/२, ३ ॥ ४/२३/७ ॥ ४/२६/७ ॥

।८०। दीर्घायु प्राप्ति यज्ञ ।

ॐ यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरूपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय ॥

ॐ शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः ॥

ॐ पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा ।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥
ओ३म् इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका ।
दीर्घायुरस्तु मे पति जींवाति शरदः शतम् ॥

ॐ प्रबुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥

ऋ० १०/१६१/२,४ ॥ अथ० १४/२/२,६३,७५ ॥

ॐ ऋतं च मे अमृतं चमेऽयक्ष्मं च मेऽनामयच्चमें जीवातुश्चमे ।
दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं चमे सुखं चमे शयनं चमे
सूषाश्च मे सुदिनं चमे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ यजु० १८।६॥

। ८१ । जन्मोत्सव यज्ञ ।

प्रत्येक वर्ष जन्मोत्सव मनाते हैं । उसमें यह विशेष लाभ तभी होता है जब यह बात उस दिन मौन या श्रद्धा-भक्ति-प्रेम-शान्ति भावना से स्मरण करे कि हमने गत वर्ष से अबकी बार अपने जीवन में कितना उन्नति किया है ? विद्या, बुद्धि, ज्ञान, विवेक शारीरिक शक्ति, लोक प्रियता परोपकार, दान, पुण्यकर्म, त्याग, तप, साधना, ईश्वर उपासना, योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, सत् गुरु संग इत्यादि सभी प्रकार से अग्रगम्य

होना चाहिए। यदि कोई भूलत्रुटि आदि ज्ञात हो तो इस दिन से ही जीवन यात्रा को परिवर्तन करें। अपने जीवन को श्रेय पथ पर लेने का सर्वदा प्रयत्न करें। १७ वाँ दर्पण के सामान्य तथा विशेष यज्ञादि कर गायत्री से पूर्व "जन्माष्टमी" पर्व अर्थात् ६१वाँ दर्पण के मंत्रों से आहुति देकर पूर्ववत् समापन करें।

卐

।८२। मातृ पूजन यज्ञ।

जिस प्रकार सभी पर्वों में उत्सव मनाते हैं ठीक उस प्रकार माता-पिता के नाम से भी जीवित अवस्था में गुरु रूप से पूजन करना चाहिए। मृत्यु के पश्चात् श्राद्ध तर्पण के नाम से उन्हें खिलाना-पिलाना मूर्खता है। केवल स्वार्थी पण्डे-पुरोहितों को ही लाभ होता है और कुछ लोगों के खाने-पीने-लूटने वाला धन्धा बन जाता है। अतः जीवित माता-पिता को ही गुरु के रूप में सम्मान पूर्वक श्रद्धा-भक्ति से प्रति वर्ष पूजन पर्व करे।

प्रथम १७ वाँ दर्पण के अनुसार सभी कार्य करके गायत्री मंत्र के आहुति से पूर्व अपने माता को कहे कि हे माता जी! आप हमारे शरीर रूप साधन को दिया है जिससे परम्परा के अनुसार सभी परिवार सह सुख शान्ति आनन्द को भोगते हैं। उसका श्रेय आपको हम स्वागत करते हैं। यह बोलकर अपने हाथों में स्वादर भेंट फल-स्वादिष्ट द्रव्य-वस्त्र तथा मन की प्यारा वस्तुएँ निम्न मंत्र बोलकर प्रदान करके सादर साष्ठांग प्रणाम करे।

ओ३म् आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुपह्वये॥ अ० ६।५।३०॥

तब माता अपने स्नेह पात्र पुत्र को बड़े प्यार से अपने पैर के उपर प्रणाम करते हुए अवस्था से अपने दोनों हाथों से उठावे और दीर्घायु कामना करते हुए अपने हृदय के साथ मिलावे परस्पर सारी वैमनस्यता को भूल जावें। और निम्न मंत्र बोलती रहे।

ॐ आते वत्सो मनो यमत्परमाश्चित् स्वधस्थात्।
अग्ने त्वाँ कामया गिरा॥ ऋ० ८।११।७

पश्चात् निम्न मन्त्रों से विशेष आहुति देवे। मन्त्र यथा :—

ॐ सहृदयं सांमनस्यं अविद्वेषं कृणोमिवः।
अन्यो अन्यमभि हर्यंत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
ॐ अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥

ॐ समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सहवो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥

अथर्व० ३।३०।१,२,६॥

अब १७ वाँ दर्पण के गायत्री आदि से आहुति देकर पूर्ववत कार्य समापन करे।

।८३। पितृ-पूजन यज्ञ।

जिस प्रकार मातृ-पूजन पर्व को मनाया है उस प्रकार ही १७ वाँ दर्पण से सभी यज्ञादि कार्य करके अपने जन्म दाता पिता अर्थात् गुरू के सम आदर सत्कार से पर्व पूजन करें। चाहे मातृ-पितृ पूजन दिवस दोनों उपस्थित रहने से एक समय में दोनों के पूजन करें।

अब १७ वाँ दर्पण के सम शेष कार्य पूर्ण करे।

।८४। गुरू पूर्णिमा यज्ञ।

गुरू पूर्णिमा पर्व मनाना अच्छा है। वर्ष में एक बार ज्ञान प्रदाता गुरूजन के प्रति विशेष रूप से सम्मान प्रदर्शन करें। सर्वदा ही गुरूजन लोग देव सदृश है। उनका दर्शन-श्रवण-मनन सर्वदा चन्द्रमा के सम सुख शान्ति-आनन्द प्रदान करने वाला होने से पूर्णिमा में ही यह पर्व मनाया जाता है।

१७ वाँ दर्पण के अनुसार सभी कार्य करें। गायत्री से पूर्व निम्न मन्त्रों से विशेष आहुति देवें।

ॐ यो नो अग्ने अररिवाँ अघायुररातीवा मर्चयति द्वयेन।
मंत्रो गुरूः पुनरस्तु सो अस्मा अनु मृक्षीष्ट तन्वं दुरूक्तैः स्वाहा॥
ओ३म् इमे तुरं मरूतो रामयन्तीमे सहः सहस आ नमन्ति।
इमे शंसं वनुष्यतो नि पान्ति गुरू द्वेषो अररूषे दधन्ति स्वाहा॥
ॐ नतं तिग्मं चनत्यजो न द्रासदभि तं गुरु। यस्माउ शर्मसप्रथा
दित्यासो अराध्वमनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः स्वाहा॥

अब शिष्य लोग गुरूजी महाराज के चरण स्पर्श करके निम्न मंत्र से भूल-त्रुटी का क्षमा प्रार्थना करे। मंत्र यथा :—

ॐ यद्वो देवाश्चकृम जिह्वया गुरू मनसो वा प्रयुती देवहेळनम्।
अरावा योनो अभि दुच्छुनायते तस्मिन्तदेनो वसवो नि धेतन॥
ऋ० १।१४७।४ ॥ ७।५६।१९ ॥ ८।४७।७ ॥ १०।३७।१२ ॥

हे ज्ञान प्रदाता विद्वान गुरूदेव महाराज हम आपके प्रति मन-वचन

कर्मादि से कभी दुःखाया हो तो उसे हम क्षमा चाहते हैं। आप सदा हमारे लिए सुपथ प्रदर्शक बने रहिए। ये ही हमारी विनती है।

अब १६ वाँ दर्पण पूर्णिमा के मंत्रों के आहुति देकर गायत्री मन्त्र से ३ आहुति देवे तथा पूर्ववत १७वाँ दर्पण के सम पूर्णाहुति समापन करे।

।८५। भ्रातृ द्वितीया यज्ञ।

भ्रातृ द्वितीया पर्व गार्हस्थ जीवन का एक शान्तिका प्रतीक है। घर में भाई बहन आपस में शान्ति से संगबद्ध होकर रहे तो उस परिवार में बाधा-विघ्न कम ही घेरता है। जिस के घर पर भाई-भाई तथा बहनादि विरुद्ध वैर-भाव से चलते हैं, उस परिवार में दुनिया की सारी समस्याएँ आकर खड़ी हो जाती है, अर्थात् पूरे परिवार ही पतन हो जाता है। इसलिए भाई-भाई तथा बहनों के परास्पर संघबद्ध जीवन से केवल मनुष्य ही नहीं यमराज भी ठीक से चल नहीं पाता। इसके ऊपर कहावत भी है कि—

भाई के कपाल मे करे फोटा।
यम के द्वार पर लगे काटा॥

अतः वर्ष में एक बार परिवार के शान्ति तथा संघबद्ध जीवन-यापन करने के लिए प्रतीज्ञाबद्ध पर्व मनावे। भाई के कपाल में अपनी बहन टीका करावे तथा भाई-बहन आपस में बड़े सत्भावना के साथ आजीवन वर्ताव करें। कभी एक दूसरों के साथ वैर-भाव न रखे।

१७ वां दर्पण के सभी कार्य करके गायत्री मंत्र से पूर्व निम्न मंत्र से भाई के कपाल में बहन टिका करावे। मंत्र यथा :—

ॐ सहृदयं सांमनस्यं अविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाऽघ्न्या ॥

अर्थात हम भाई-बहन तथा परिवार के सभी लोग परस्पर एक हृदय, एक मन होकर रहे। हम आपस में कभी भी द्वेष न रखे। सद्य उत्पन्न गोवत्स के सम मां का जिस प्रकार अनन्य प्रेम रहता है ठीक उस प्रकार ही हम प्यार के बन्धन में बने रहे।

अब निम्न मंत्रों से सभी लोग विशेष आहुति देवे। मंत्र यथा—

ॐ आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम् ।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुपह्वये ॥ अथ० ६।५।३० ॥

ॐ अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्वपतिं सप्तपुत्रम् ॥

ॐ अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥

ॐ मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

ॐ समानी प्रपा सहवोऽन्न भागः समाने योक्त्रे सहवो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ अ० ३।३०।१-६॥

इसके बाद १७ वाँ दर्पण के अनुसार गायत्री प्रायश्चित्ताहुति आदि देकर पूर्ववत कार्य समापन करे।

卐

।८६। जमाइ षष्ठी पर्वयज्ञ

जमाई षष्ठी पर्व यज्ञ में प्रति वर्ष जामाता का सन्मान करने से परस्पर शत्रुता-विषमता-कलह नहीं रहता। यथायोग्य सत्कार तथा उभय के ही सत्भावना बनी रहती है। जमाई को भी श्वास, श्वसूर के प्रति मातृ-पितृ तुल्य सन्मान देवे और जमाता भी ज्येष्ठ पुत्र के सम सन्मान पावे।

१७ वाँ दर्पण के अनुसार सभी कार्य करके गायत्री मंत्र से पूर्व निम्न मंत्रों से विशेष आहुति देवे।

ॐ न जामये त्वान्वो रिक्थमारैक् चकारगर्भं सनितुर्निं धानम्। यदी मातरो जनयन्त वन्हिमन्यः कर्त्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्॥
ॐ मोष्वद्य दुर्हणावान्त्सायं करदारे अस्मत्। अश्रीरइव जामाता।
ॐ तव वायवृतस्पते त्वष्टुर्जामातरद्भुत। अवांस्या वृणीमहे।
ॐत्वष्टु र्जामातरं वयमीशानं रायईमहे। सुतावन्तो वायुं द्यु म्नाजनासः।

ऋ० ३।३१।२॥ ८।२।२०॥ ८।२६।२१,२२॥

इसके पश्चात जामाता को अपने श्वसुर और श्वासुरी निम्न मंत्र बोलकर स्वागत सम्मान के लिए अभय वाणी प्रदान करे।

ॐ मोष्वद्य दुर्हणावान्त्सायं करद्वारे अस्मत्। अश्रीरइव जामाता॥

हे जमाई बाबू ? आप सर्वदा वीरता के साथ विचरण करे। आप कभी भी दबाव में गरीब, दुर्बल, हृदय वाला के सम उपस्थित न होवे। सर्वदा धैर्यता से वीरता के साथ सर्वदा आवे।

इसके बाद यथा योग्य सामर्थ्यानुसार भेंट में देने योग्य समानों को एक पात्र में रखकर निम्न मंत्र बोलकर जमाता को प्रदान करें।

ॐ त्वष्टुर्जामातरं वयमीशानं राय ईमहे। सुतावन्तो वायुं द्युम्नाजनासः ॥ ऋ० ८।२।२० ॥ ८।२६।२२ ॥

आपको हम जो कुछ ऐश्वर्य-धनादि से सेवा कर पा रहे हैं सो उसे श्रद्धा, भक्ति, प्रेम मातृ, पितृ, भक्ति भाव से ग्रहण करें।

卐

।८७। सभा आयोजन यज्ञ।

ॐ सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्यआ।
इड्स्पदे समिध्यसे सनो वसून्याभर ॥
ॐ सं गच्छध्वं सं वदध्वं संवो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते ॥
ॐ समानो मन्त्रः समिति समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रमभि मन्त्रयेवः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
ॐ समानी व आकूती समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति ॥
ॐ सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥
ॐ सं घोषः शृण्वेऽवमैरामित्रैर्जही न्येष्वशनिं तपिष्ठाम्।
वृश्चेमधस्ताद्वि रुजा सहस्व जहि रक्षोमघवन् रन्धयस्व ॥

॥ ऋ० १०/१९१/१-४; ऋ० ३/३०/१६ ॥

ओ३म् आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतां आराष्ट्रे राजन्यः शूरऽ इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्योनऽ ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ यजु० २२।२२ ॥

बड़े-२ सभा, समिति, राजसभा आदि में ऊपर के मन्त्रों से प्रार्थना करें। १७ वाँ दर्पण के अनुसार यज्ञादि का भी आयोजन करके गायत्री से पूर्व ऊपर के मन्त्रों से सभी सभासदें आहुति देवें और इन मन्त्रों को पाठ करके "शपथ" या प्रतीज्ञा लेवें। जिसे मंत्र के कहने के अनुसार चले।

।८८। मृत्युञ्जय यज्ञ ।

मृत्युञ्जय यज्ञ उस समय करें जब मृत्यु सम्मुखीन आया हो। यम राज यदि सन्तोष होकर छोड़ चले जावें।

ओ३म् यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥
ओ३म् यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्रच तिष्ठत।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्व जेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥
ओ३म् यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन।
सनो जीवेष्वा यमेद् दीर्घमायुः प्रजीवसे ॥

ओ३म् मात्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥ अथ० १८।२।१,२,३,२५ ॥

ॐ परेयिवांसं प्रवतो महीरिति बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥
ॐ यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवाउ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेता एना जज्ञानाः पथ्या३ अनुस्वाः ॥

अथ० १८।१।४६,५० ॥

इसके पश्चात् दीर्घायु और प्रायश्चित एवं चान्द्रायण प्रकरणों के आहुति देवें। गायत्री आदि से आहुति देकर पूर्ववत् कार्य समापन करें।

।८९। शत्रु से आत्मरक्षा यज्ञ ।

शत्रु से आत्मरक्षा के निम्न मंत्र सर्वदा जप करें। प्रथम दिन इस मंत्र से पूर्ववत १७वाँ दर्पण से यज्ञ करके गायत्री से पूर्व इस मंत्र का कम से कम १०१ बार आहुति देवें।

ॐ शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽ स्तु मामा हिँ सीः ।
निवर्त्तयाम्यायुषेऽ न्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्य्याय ॥ यजु० ३।६३ ॥

प्रार्थना—हे जगत नियंत्रा ! आप हमारे सभी प्रकार के अशान्तिओं के दूर करने वाले, शान्ति के प्रतीक शिवमय परम पिता परमात्मा हो। आपकी कृपा दृष्टि से हमें कोई भी शत्रु मार न सके। हमारे दीर्घायु के साथ अन्न सुप्रजा-विजय धनैश्वर्य-ब्रह्मचर्य शक्ति बल-तेज-पराक्रम सर्वदा बने रहें। आपको हम असंख बार प्रणाम करते हैं।

卐

।९०। गायत्री पारायण महायज्ञ ।

गायत्री पारायण महायज्ञ में निम्न गायत्री मंत्रों के द्वारा प्रथम आहुति देवे पश्चात् महागायत्री का निर्धारित व्रतानुष्ठान आहुति देते रहे। अन्य शेष कार्य १७वाँ दर्पण के अनुसार करें।

ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।

धियो योनः प्रचोदयात् ॥ यजु० ३६।३ ॥

ॐ भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याँ सुवीरोवीरैः सुपोष पोषैः ॥

ॐ भूर्भुवः स्वर्लोजी३च्छाचीन्यव्येगव्यऽएतदन्नमत्त

देवाऽएतदन्नमद्धिप्रजापते ॥ यजु० ७।२६ ॥ २३।८ ॥

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

ॐ विभक्तारँ हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सवितारं नृचक्षसम् ॥

ॐ कया नश्चित्रऽआ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृत ॥

ॐ अभीषुणः सखीनामविता जरितॄणाम्। शतं भवास्यूतिभिः ॥

ॐ आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥

ॐ त्रिंशत् धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते। प्रतिवस्तोरह द्युभिः ॥

ॐ उपत्वाग्ने शिवेदिवे दोषावस्तर्द्धियावयम्। नमोभरन्तऽएमसि ॥

ॐ राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्यदीदिविम्। वर्द्धमानँ स्वेदमे ॥

ॐ सनःपितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वानः स्वस्तये ॥

ॐ परिते दूडभोरथोऽस्माँ२ऽ अश्नोतु विश्वतः। येन रक्षसि दाशुषः ॥

यजु० ३०।३,४ ॥ ३६।४,६ ॥ ३।६,८,२२,२३,२४,३६ ॥

ॐ अग्न आयाहि वीतये गृणानोहव्यदातये। निहोता सत्सिबर्हिषि ॥
ॐ त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने ॥
ॐ अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्ययज्ञस्यसुक्रतुम् ॥
ॐ आतेवत्सो मनोयमत्परमाच्चित्सधस्थात्। अग्ने त्वां कामये गिरा ॥
ॐ न कि देवा इनीमसि नक्यायोपयामसि। मंत्रश्रुत्यं चरामसि ॥
ॐ वात आवातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे। प्रनआयूंषितारिषत्।
ॐ पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टुधियावसुः ॥
ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥

॥ साम० १, २, ३, ८, १७६, १८४, १८६, ६०५ ॥

१९१। भक्ति गीतिका भजन कीर्तनादि।

मनुष्य ही केवल नहीं। सर्प भी बीन बाजा तथा मधुर आवाज सुनकर मत्त हो जाता है अर्थात् प्राणी मात्र ही मधुर व्यवहार से मुग्ध होता है। अतः भगवान के श्रेष्ठ प्राणी मनुष्य कितना भी नास्तिक हो जावे परन्तु भजन-कीर्तन गाना-बजाना आदि व्यवहारों से मुग्ध हो जाता है। अतः प्रत्येक को अन्ततः ईश्वर भक्ति से मुग्ध होकर रोजाना श्रद्धा-भक्ति युक्त भजन-कीर्त्तन-मंत्रोच्चारण-श्लोकादि छन्दबद्ध गायन करने से शारीरिक-मानसिक-आत्मिक विकास होता है। इसलिए निम्न श्लोकादि रोजना बोलने से याद हो जाना ही एक सम्पद प्राप्त होना होता है। रोजाना अभ्यास से ही बहुत मूल्यवान सम्पदा एकत्र हो जाती जो उससे अन्दर ही अन्दर भक्त को आनन्द मिलती है।

—: कुछ श्लोक और मन्त्र आदि :—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

त्वमेकं शरेण्यं त्वमेकं वरेण्यं त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम्।
त्वमेकं जगत्कर्तृ पातृ प्रहर्तृ, त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम्॥

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय, नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय।
नमोऽद्वैततत्वाय मुक्तिप्रदाय, नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय॥

भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्।
महोच्चैः पदानां नियन्तृत्वमेकं परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम्॥

वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो, वयं त्वां जग्त्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं, भवाम्भोधिपोतं शरण्यं ब्रजामः॥

अभयं मित्रात् अभयम् अमित्रात्, अभयं ज्ञातात् अभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तं अभयं दिवा नः, सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

इह चेदवेदीत् अथ सत्यमस्ति, नो चेद् इहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः, प्रेत्यास्माल्लोकान् अमृता भवन्ति॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे, भूतस्य जातः पतिरेकऽ आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्, कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

प्रजापतेन त्वदेतान्यन्यो, विश्वा जातानि परिताबभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो, अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण, स्तमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम, त्वया ततं विश्वमनन्तरूपम् ॥
वायुर्यमोऽग्निरुणः शशाङ्क, प्रजापतिस्त्वं प्रपिता महश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्र कृत्वः, पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

।१। संस्कृत गीतिका ।

श्रुतिभानू उदयोऽयम् ! जगतानन्दयतीह नितान्तम् ।
ध्वान्तमपास्यं ततं जगतीदं, तनुते मोदमनन्तम्
अज्ञानाहत मानव चित्तं, ज्ञान विकासिषु शान्तम् ॥
निद्राणं जनपङ्कयरविन्दं, ध्वान्तनिशीत निशान्तम् ।
उन्निद्रं रचयन्नितान्तं, भासयतीह भवान्तम् ॥
सुन्दर काव्यमहीरुहरम्यं, कृतकविकोकिल गीतम् ।
भाविर्मण्डित मातन्वानः, सारस्वत विपिनान्तम् ॥
कविताम्भोरुह वृन्दमरन्दं, रसयन् रसिक मिलिन्दम् ।
स्तुतनुविहङ्ग चारूचरित्रं, सानन्दं हृदि शान्तम् ॥
पीताम्वर धरवर्णिवरेण्यं, गुरुकुलमात्मशण्यंम् ।
आत्मद्युतिभिर्विदधत् मन्दं, मोदयतु ससुकान्तम् ॥
निगम मंत्र सुगम गन्धवहोऽययम्, भुवनेशान्तिसमीरः ।
मन्दमन्दमिह वहति वनान्तं, विदधत् सुमितलतान्तम् ॥

।२। गीतिका ।

भगवन् ! त्वदीय भक्तिं शान्ते सदास्मरेयम् ।
वेदोक्त धर्मकार्यं नक्तंन्दिनं विधेयम् ॥

सङ्गं सदासुधीनां शरणं च सज्जनानाम् ।
सत् भावनाऽभृतोऽहं, पापात् सदा विभेयम् ॥

रोगा दहन्ति देहं प्रवला शरीर मध्ये ।
ब्रह्मचर्य मोषधं च पेयं सदा पिनेयम् ॥

बालैरमूल्यवेला खेला सुनापनेयम् ।
ज्ञानं सदार्जयेयं, धर्मं सदाचरेयम् ॥

।३। गीतिका ।

हे विभो आनन्द-सिन्धो ! मे च मेधा दीयताम् ।
यच्चदुरितं दीनबन्धों ! तच्च दूरं नीयताम् ॥
चञ्चलानि चेन्द्रियाणि मानसं मे पूयताम् ।
शरणं याचे तावकोहं सेवकोऽहं गृह्यताम् ॥
त्वयि च वीर्यं विद्यतेयत् तच्चमयि निधीयताम् ॥
याच दुर्गुणदीनता मयि, सातु शीघ्रं क्षीयताम् ॥
सौर्य - धैर्य - तैजसं च भारते चे क्रीयताम् ।
हे दयामय ! अयि अनादे ! प्रार्थना मम श्रूयताम् ॥

।४। गीतिका ।

त्वं पाहिमां त्राहिमां करुणांबुद्धिन्धे ।
त्वमसि द्रष्टा जगतस्त्रष्टा ।
नमामो त्वां मुहुर्मुहु मोदमनादे ॥
गुरुणां गुरु भावनां प्रभो !
त्वं रसय विद्या चन्द्रिकां हृदिनिशिमे ॥
त्वं अखिल धारिणः सदाचारिणः ।
ते वेद प्रचारिणः स्यु विश्वपते ॥
त्वं देहि विमलां अमलं सुफलाम् ।
मम-आगम - निगम श्रुति पिश्वपते ॥

भजन—१

नाम सुनते हैं तेरा, प्रभु मालिक हो मेरा ।
कैसे तुम्हें पाजाँऊ मैं, यही है इक सहारा ॥
यज्ञ में सुगन्ध तुम, मन्त्रों के ज्ञान हो तुम ।
गुण-गुणाकर गान करूँ, हृद मन्दिर में ही आजा ॥
जल में है शान्ति सागर, अग्नि में रूप मोहर ।
पल में ही झलक दो, रूप दिखाओ तो तेरा ॥
औषधि और बनस्पति, घृत - फल चन्दनादि ।
इससे यज्ञ करो सहि, दिग् दिगन्त में ही छड़ा ॥
वेदाश्रयी के सहारा, चेतन् ज्ञानानन्द धारा ।
सारा विश्व प्रभु जोड़ा, कुछ भी नहीं, न्यारा ॥

भजन—२

साधक बनकर ओ३म् प्रभु के, साधना मैं करूँगा।
मन बुद्धि को वश में करके, प्रभु में ध्यान लगाऊँगा ॥

जो कुछ कमाई करता रहा, उससे सभी लाभ उठाया।
स्वार्थीओं से प्रशंसा पाया, कोई न मुझे ध्यान दिलाया।
कर्मों की फाँस गले भूलने पर, साथि सबके सब भागा ॥

सारी ऊमर व्यर्थ गमाया, कुसंतों में पड़ा रहा।
पापिओं के दल भारी में, उनमें ऊँचा नाम रहा।
प्रभु भजन की महिमा गाकर, बाकी ऊमर बीताऊँगा ॥

अब से मेरा व्रत यहीं है, पल-पल क्षण-क्षण जाप जपूँ।
यम-नियम और आसनादि, करके जीवन विताऊँ।
योग-तपसे तप-तपाकर, जीवन प्रभु को सौंपूँगा ॥

वेदाश्रयी के यही साधना, सबमें प्रचार करूँगा।
ब्रह्मचर्यादि बीर व्रतों से, परम ब्रह्म को ध्याऊँगा ॥
चेतन ज्ञान के आनन्द से, सारे विश्व को बताऊँगा ॥

भजन—३

मन माने ना मेरा, सहारा बिना तेरा।
किसको रिझाऊँ मैं, किसको बताऊँ मैं ! हे प्रभो ! —मन मानेना०
यदि दिखा सकूँ मैं, तभी लगा रहूँ मैं।
तेरा-मेरा-भेद क्या ? पाना मेरा बाना है ! हे प्रभो ! —मनो०
मन की चमक हो, हृद के ही दीपक हो।
आत्मा के सूरज हो, ज्ञान के सागर हो ! हे प्रभो ! —मनो०

साधकों के गुरू हो, प्रेमिओं मे स्नेही हो।
वायु में शीतल हो, ऋतु में बसन्त हो! हे प्रभो! —मनो०
यज्ञ में सुगन्ध हो, अग्नि में ज्योति हो।
मन्त्र फल मुक्ति हो, दर्शन में द्रष्टा हो! हे प्रभो! —मनो०
जंगल में मंगल हो, भक्ति में ही शक्ति हो।
ध्यान-धारणा-समाधि के, सभी में लगन हो! हे प्रभो! —मनो०
शान्त भी अनन्त हो, वेद ही चूड़ान्त हो।
भक्त भी अनन्त हो, सभी में लगन हो! हे प्रभो! —मनो०
वेदाश्रयी धारा हो, चेतन ही ज्ञान हो।
आत्मा में परमात्मा हो, मुक्ति का साधन हो! हे प्रभो! —मनो०

भजन—४

कर्म क्या किया? रे मन! —धर्म क्या किया?
भव भावना है, माया जाल।
सभी उसमें ही फँसाया॥ कर्म क्या०

जन्म-मृत्यु, आना-जाना, मन में कभी तूँ सोचा?
माया-मोह भोग-विलास सब, आया चला गया॥ कर्म क्या०
कुछ भी जग में स्थिर नहीं है, कम्पायमान है सारे।
नव नित्य छाया चित्र, कुछ भी नहीं रहा॥ कर्म क्या०
इष्ट-मित्र बन्धु-बान्धव, है सब में मोह माया।
जो सेवा शरीर की किया, हिसाब नहीं रहा॥ कर्म क्या०
मनुष्य चोला जो भी पाया, प्रभु भजन के लिए।
ये नाम है महा धन, इसके बिना सभी फीका॥ कर्म क्या०
कहते है संसार को असार, सभी है प्रभु की माया।
वेदाश्रयी का यही कहना, चेतन ज्ञान को मित्र बना॥ कर्म क्या०

भजन—५

मन कहाँ तूँ भाग रहा है? प्रेम से प्रभु नाम ले।
ये जीवन है अमूल्य धन, कहाँ पर ऐसे नाम मिले॥

भोग-विलाश है जरा व्याधि, उसमें कभी शान्ति न मिले।
जन्म-मृत्यु, आना और जाना, चक्र-क्रम घूमता ही रहे॥

जीवन यात्रा चल रही है, प्रतिदिन हरेक पल-पल में।
जैसे आँखों के पलक में ही झलक केवल आ गए॥

प्रभु नाम है अमूल्य धन, जन्मान्तर नित्य ही रहे।
मुक्तानन्द जब खो बैठेगा, केवल रोना निराशा ही में॥

जो कुछ भी है साधना बिना, उसमें दुःख-कष्ट ही पाना।
प्रभु की है अपरूप लीला, जगमें ऐसे कौन और मिले॥

देव-देवी जो है संसार में, पुकारते हैं सभी ओङ्कार में।
बुढ़ापे में है समय कहाँ? मृत्यु भय सोचने में बीते॥

ऐसे स्वामी वेदाश्रयी कहें, चेतन ज्ञान धारा घेरा में।
जवानी के जीवन मस्ती में, मुक्त मन की मार्ग बना लें॥

भजन—६

माँ! तुम्हारे गोद में है, संसार के सारे प्राण।
जीवन - मरण, स्वप्न - श्वसन, सभी तुम्हारे दान॥ मा! ....

क्यों जनगन पूजा करें, भेड़, बकरा बलिदान?
वे भी सन्तान, हम भी सन्तान, सभी तुम्हारे दान ॥ मा! ....

कच्चे रक्त मांस आदि, खायगा सभी हिंस्र प्राणी।
उसमें यदि तुम भी खुश हो, पशुओं से भी हो पतन॥ मां! ....

तेरे नाम में बलिदान के कच्चे रक्त मांस करे प्रदान।
घर में जाकर इष्ट - मित्र लेकर, पश्चान्न करे ग्रहण॥
जो खावें माँ ! अपना सन्तान, उससे बढ़कर कौन पापी महान्।
यदि तुम को में सत्य ज्ञान-प्रान होता, प्यारे होते सभी सन्तान॥ मा''''।
मा ! ऐसी यदि हैं लीला तेरी, निष्ठूर मा हो राक्षसिनी।
ज्ञानी हो तो दण्ड दे मा ! नरकगामी हो परिणाम॥ मा !'''' ''''।

भजन—७

प्रभु आपसे महान, मेरा कोई नहीं।
यज्ञ के रूप में, संसार को बसाया।
वहीं विधानों से, शरीर को सजाया।
ऐसे कलाकार जग में कोई नहीं॥ प्रभु आपसे०॥
चन्द्र सूरज और नक्षत्रों को बनाया।
फूलों की माला से, आकाश को पहनाया।
शरीरधारी प्राणियों के सन्तानें बनाया।
आप ही के बराबर, मालिक कोई नहीं॥ प्रभु आपसे०॥
आपकी महिमाओं जैसे, संसार को भुलाया।
जैसे कर्म तैसे फल, रिहाई नहीं पाया।
आया - गया - पाया जैसे, उसमें समाया।
सभी है न्यारी-न्यारी, कुछ भी किसी का नहीं॥प्रभु आपसे०

भजन—८

प्रभु मेरे तुम हो प्यारे, मैं तुम्हारा हूँ।
यही विनती मेरी, तुमको ही पाऊँ॥
मोह माया दुनियाँ की, आयी चली गई।

किसी में रहा नहीं, तुमको ही पाऊँ॥

इस दिल नगर में, जो प्यार किया था।
उसने भी सताया मुझे, अब न किसी का हूँ ॥
विषय भोग वासना में, माया चलती रही।
फँसा नहीं किसी में, तुम्हारी छाया में हूँ ॥
विवेक ज्ञान समुद्र के, श्रोत चल रही है।
उसी श्रोत की लहर में, पुकारता ही रहूं ॥
वेद ज्ञान का हवा, वेदाश्रयी जो लाया।
चेतन ज्ञानानन्द में, उसमें दिल बिठाऊँ ॥

卐

भजन—६

सभी में समाया प्रभु, दिलमें रमे रहो।
यही है विनती मेरी, दर्शन तुम दिलाओ ॥
दुःखों के ज्वालाओं में, जीवन को जलाया हूँ।
भक्त हूँ अधम तुम्हारा, ज्ञानामृत को चाहता हूँ ॥
आँसुओं के बुन्देमाला, रोता-फिरता गाता चला।
इस माला को डालने में, तुमसा स्नेही कौन हो ॥
हृदय मन्दिर के मालिक, कोई नहीं और जगमें।
सुख-शान्ति, कल्याण, मय, तुम ही मेरे एकहो ॥
जन्ममृत्यु-जरा व्याधि, जीव जगत के धारक हो।
प्यारे दिल के प्रभुतुम, हमें भी तुम चलाओ ॥
वेदाश्रयी महाराज कहे, जगमें एक आश्रय रहे।
चेतन ज्ञान आनन्द के, एक प्रभु में ध्यान हो ॥

भजन—१०

ओ३म् गुण-गान गाओरे, यही समय है प्यारे।
मन-बुद्धिको वश में करके, हृद मन्दिर में आओरे॥
प्रातः काल की ब्रह्मवेला, सुमन संगीत गारे।
ऐसे मानव दुर्लभ जनम, पाकर क्यों बिगाड़े॥
विषय - भोग - ऐश्वर्य सम्पदा, उससे प्रभु न्यारे।
इन साधनों को पाने क्यों प्रभुको तू पुकारे॥
नींद की शान्ति विषय भ्रान्ति, गंभीर नींद में जारे।
वैसे होवे प्रभु भक्ति, एकाग्र शक्ति लारे॥
प्रातः समय, प्रातः जीवन, प्रातः ब्रह्म को पुकारे।
यही जीवन की कड़ी पकड़ ले, वेदाश्रयी सुनाये॥

卐

भजम—११

भक्ति में ही शक्ति मिले, बड़े ज्ञान की धारा।
आत्म ज्ञान की प्यास बुझाने, प्रभु को ले सहारा॥
पल-२ क्षण-२ व्यार्थ गवाया, कुसंस्कारों के दिसारा।
साधन-भजन की भक्ति में, ज्ञान सुमन की धारा॥
जनम-२ की दुःखिया प्राणी, प्रभु से क्यों तू न्यारा।
प्रभु भजन की महिमा गाकर, पीले मुक्ति धारा॥
आज-कल परसों भक्ति करूं समय सब चला गया।
बुढ़ापा की मौत कड़ी गिन रोना-धोना बिसारा॥
वेदाश्रयी के यही कहना, महान एक ही हमारा।

आओ सभी हम गाकर रिझें, प्रभु हमारे हो प्यारा॥

भजन—१२

ओ३म् प्रभु है अच्छा, सारे जगत में सच्चा।
नाम गुणगान कीर्तन से, कच्चा जीवन हो सच्चा ॥ सारे जगत०
मानव जीवन साधना, घट योनी पावेना।
प्रभु नाम की महिमा गाकर, करो केघल साधना ॥ सारे जगत०
भूले-भटके मनवा को, वशमें करके बान्धना।
प्यारे प्रभुनाम गाकर, हृदय मन्दिर में त्यागना ॥ सारे जगत०
है जब तक तथ्य चेतना, वेद - ज्ञान की साधना।
वेदाश्रयी का यही कहना, इससे बढ़कर पवेना ॥ सारे जगत०

भजन—१३

सुखी बसे संसार सब, दुखिया रहे न कोय।
यह अभिलाषा हम सबकी, भगवान। पूरी होय ॥
बुद्धि - विद्या, तेज बल, सबके भीतर होय।
दूध - पूत, धन - धान्य से, वंचित रहे न कोय ॥
आपकी भक्ति प्रेम से, मन होवें भरपूर।
राग द्वेष से चित मेरा कोसों भागे दूर ॥
मिले भरोसा नाम का, हमें सदा जगदीश।
आशा तेरे धाम की, बनी रहे मम ईश ॥
हमें बचाओ पाप से, करके दया दयाल।
अपना भक्त बनाय के, हमको करो निहाल ॥
दिल में दया उदारता, मन में प्रेम अपार।
धैर्य हृदय में वीरता, सबके दो करतार ॥
हाथ जोड़ विनती करूँ, सुनिये कृपानिधान।
साधु-संगत सुख दीजिए, कर दो भव से पार ॥

भजन—१४

तुम्हें प्रभो ! अब छोड़कर मैं, कहाँ बसूंगा ओ पार।
पार कर दो हमें प्रभो ! ज्ञान ज्योति के द्वार॥
माया मोह वासना में, उलझा है संसार।
इधर-उधर से धक्के खाया हूँ दुःख रहा भरमार॥
जनम-जनम के दुःखिया रहा, जग में पारावार।
कौन सुनेगा पुकार मेरा, दुःखी कोई नहीं आर॥
भूले-भटके, माया-जगत में, अज्ञान रहा अपार।
दिल में अब कुछ रहा नहीं, ज्ञान के तुम होआधार॥
जो कुछ मैं-मैं मेरा किया, सभी में हैं अन्धकार।
अब ज्ञान ज्योति को जला दो, कृपा होगी अपार॥
वेदाश्रयी कहें ज्ञान सहारा, चेतन भक्ति भाव।
वेद ज्ञान की महिमा गावें, हो जाय भव से पार॥

भजन—१५

हे नाथ अब तो ऐसी दया हो ! जीवन निरर्थक जाने न पावें।
एमन न जाने क्या - क्या दिखाए, मेरे बने कुछ वनने न पावें॥
संसार में आसक्त रहकर, दिन - रात अपने मतलब कहकर।
सुख के लिए लाखों दुःख सहकर, ये दिन अभी तक यूही बिताए॥
ऐसा जगा दो फिर सो न जाऊँ, अपने को निष्काम प्रेमी बनाऊँ।
मैं आपको ही चाहूँ हृदय पुकारूँ, संसार का भय कुछ रहने न पावें॥
वह शक्ति दो सत्कर्म करलु, अपने हृदय में सद्भाव भर लूँ !
नरतन है साधन भवसिन्धु तरलुँ ये दिन न जाने आए न आए॥
हे प्रभो हमारे अभिमान तोड़ दो, दारिद्र हर दो दानी बना दो।

अनन्तमय विज्ञानि बना दो, पथिक मैं हूँ आशा लगाए॥

वेदालोक ग्र...

प्रकाशि...

(१) महागुरु मंत्र साधना
(२) मृत्यु के आगे-पीछे
(३) जन्म - मृत्यु श्राद्ध - तर्पण
(४) त्रिकाल कैलेण्डर

अप्रका...

(६) उपदेशामृत
(१०) गुरु तत्व कथा
(११) अग्नि विज्ञान
(१२) प्राणायाम ही जीवन
(१३) दैनिक वेद माला
(१४) श्राद्ध तर्पण नाटक
(१५) कर्म दशा
(१६) ज्योतिष के मायाचक्र
(१७) मूर्ति में मुक्ति साधना
(१८) व्यायाम ही जीवन
(१९) जन्म-मृत्यु चक्र
(२०) आश्रम व्यवस्था
(२१) वशीकरण विद्या
(२२) जात पात मोचन
(२३) राज व्यवस्था
(२४) धुम्रपान
(२५) आहार ही जीवन मृत्यु
(२६) प्राणिनांगति दर्शनम्
(२७) ब्रह्मचर्य ही जीवन
(२८) वेद में मिथ्या मांसाहार
(२९) विवाह रहस्य

(३९) वानप्रस्थाश्रमादि
(४०) लोक दर्शन
(४१) संस्कारतत्वालोक
(४२ शरीर यज्ञ
(४३) वेदालोक पाठमाला.
(४४) सन्तान ही राष्ट्र का मेरुदण्ड
(४५) साधना क्या है ?
(५६) शरीर ही चिकित्सालय
(४७) आश्रम ही रोग चिकित्सा
(४८) भक्ति भजनावली
(४९) संसार स्वप्न नहीं है
(५०) प्रभु का संसार